श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(पञ्चम खण्ड)

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

लेखक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

पता—गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
मङ्गलाचरण	५
समर्पण	७
अन्तिम निवेदन	९
१—छोटे हरिदासको स्त्री-दर्शनका दण्ड	२१
२—धन माँगनेवाले भृत्यको दण्ड	३२
३—गोपीनाथ पट्टनायक सूलीसे बचे	३६
४—श्रीशिवानन्द सेनकी सहनशीलता	४८
५—पुरीदास या कविकर्णपूर	५३
६—महाप्रभुकी अलौकिक क्षमा	५९
७—निन्दकके प्रति भी सम्मानके भाव	६४
८—महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन	७४
९—भक्त कालिदासपर प्रभुकी परमकृपा	८४
१०—जगदानन्दजीके साथ प्रेम-कलह	९१
११—जगदानन्दजीकी एकनिष्ठा	९९
१२—श्रीरघुनाथ भट्टको प्रभुकी आज्ञा	११२
१३—गम्भीरा मन्दिरमें श्रीगौराङ्ग	११८
१४—प्रेमकी अवस्थाओंका संक्षिप्त परिचय ...	१२८
१५—महाप्रभुका दिव्योन्माद	१५१
१६—गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन ...	१५७
१७—श्रीकृष्णान्वेषण	१६१
१८—उन्मादावस्थाकी अद्भुत आकृति	१६८

विषय	पृष्ठाङ्क
१९—लोकातीत दिव्योन्माद ...	... १७६
२०—शारदीय निशीथमें दिव्य गन्धका अनुसरण	... १८१
२१—श्रीअद्वैताचार्यकी पहेली ...	... १८६
२२—समुद्रपतन और मृत्युदशा ...	... १९१
२३—महाप्रभुका अदर्शन अथवा लीलासंवरण	... १९९
२४—श्रीमती विष्णुप्रियादेवी ...	... २०९
२५—श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ...	... २२२
२६—ठाकुर नरोत्तमदासजी ...	... २३२
२७—महाप्रभुके वृन्दावनस्थ छः गोस्वामिगण	... २३८
२८—श्रीचैतन्य-शिक्षाष्टक ...	... २५४
२९—कृतज्ञता-प्रकाश ...	... २६७
३०—श्रीचैतन्य-चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ ...	२७६ से २७९ तक

चित्र-सूची

चित्र		पृष्ठ
१—श्रीचैतन्य अथाह सागरके जलमें कूद पड़े	(रंगीन)	२१
२—श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर ...	(सादा)	२३
३—महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन ...	(रंगीन)	७९
४—टोटा गोपीनाथजीका मन्दिर ...	(सादा)	८०
५—श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर ...	(,,)	८१
६—सिद्ध बकुल वृक्ष ...	(,,)	८२
७—श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्राका विशाल रथ	(,,)	१५४
८—श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरका सिंहद्वार	(,,)	१५५
९—प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके विग्रहका आलिङ्गन किया	(रंगीन)	२०७

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

मीठी मुरलीके बजानेमें जो प्रवीण है, पीताम्बर ही जिसका परम प्रिय परिधान है, पके हुए पेंचूके समान अरुण रंगके जिसके अधर हैं, सुन्दर, शीतल, सुखद, सौम्य और सुहावना जिसका मुखारविन्द है, जो सदा मन्द-मन्द मुस्कराता ही रहता है, विषादसे जिसका वैर है और कमलके समान खिले हुए, खुले हुए, कुछ-कुछ टेढ़े हुए और कानोंतक मिले हुए जिसके दोनों नेत्र हैं, उस काले कृष्णको छोड़कर जाना चाहूँ भी तो किसकी शरणमें जाऊँ ? इसलिये उस निठुरकी ही पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाता हूँ ।
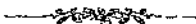
श्रीहरिः

समर्पण

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे ॥

प्यारे ! लो, तुम्हारा काम तो पूरा हो गया, किन्तु हृदयमें बड़ी हलचल पैदा हो गयी । सभी प्रिय बन्धु छोड़कर चले गये । गम्भीरा-मन्दिरमें उन्मत्त हुए चैतन्यका चित्र हृदयपटलपर ज्यों-का-त्यों ही अङ्कित है । प्यारे ! अब कबतक ऐसा जीवन और बितवाओगे ? हृदयरमण ! चैतन्यदेवके रुदनमें, उनकी मस्तीमें, उनके विरहमें, उनकी बेकली और बेचैनीमें मेरा कुछ भी साझा नहीं है क्या ? बस, जीवनमें हृदयसे, सच्चे दिलसे, एक बार जोरोंकी आह निकल जाय, वह यह कि—

हा हन्त हा हन्त कथं नयामि ।

'इस ऐसे शुष्क जीवन-भारको कबतक और ढोता रहूँ' तो यह जीवन धन्य हो जाय, प्यारे ! कभी ऐसी आह निकलेगी भी क्या ?

वैशाखी पूर्णिमाकी सन्ध्या
संवत् १९८९

तुम्हारा ही अकिंचन
'प्रभु'

अन्तिम निवेदन

भ्रमन् वनान्ते नवमञ्जरीषु
न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रन् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता
'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' ॥*

(सु० र० भां० ९८ । ५९)

विधिका कैसा विचित्र विधान है, दयानिधिकी गतिको कौन समझ सकता है। 'विश्वमें उनकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता' यह कितना ध्रुव सत्य है। जिसे हम करना नहीं चाहते दैव उसे करा लेता है। जो हम करना चाहते हैं, दैवके प्रतिकूल होनेसे उसे हम नहीं कर सकते। हम एक अदृश्य शक्तिके हाथके खिलौने हैं, तभी तो कहा है 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' अर्थात् ईश्वरकी इच्छा ही बड़ी बलवती है।

परसालके विचारोंका स्मरण होता है, कुछ लज्जा भी आती है और हँसी भी। लज्जा तो अपनी दुर्बलता और कमजोरीके कारण आती है और हँसी अपने अज्ञानजन्य- विचारोंपर। परसाल यही वैशाख-ज्येष्ठका महीना था, गङ्गाजीके किनारेकी तप्त बालुकामें ठीक-ठीक दोपहरीमें पैदल चलता था। किसी दिन बीस मील तो किसी दिन पचीस मील। प्रातः-

---

* उपवनके भीतर नयी-नयी मञ्जरियोंपर घूमते हुए भौंरेने चम्पाकी गन्ध न ली ? क्या वह रमणीय न थी या वह भौंरा ही रमनेवाला नहीं था ? नहीं, असलमें केवल भगवान्की इच्छा ही प्रबल है।'

कालसे बारह बजेतक चलता ही रहा। बारह-एक बजे जहाँ भी गाँव मिल गया रोटी माँगी, खायी और फिर चल पड़ा। उन दिनों चलते रहना ही जीवनका व्यापार था। आज तो गङ्गाजीकी उस तस बालुकामें होकर बारह बजे नंगे पैरों स्नान करने जाता हूँ, तो कष्ट प्रतीत होता है, किन्तु उन दिनों तो एक धुन सवार थी। धुनमें कष्ट कहाँ? वहाँ तो लक्ष्यपर पहुँचना ही एकमात्र ध्येय रह जाता है। कष्ट, असुविधाएँ ये सब पीछे ही पड़ी रह जाती हैं। परन्तु इन दिनों स्वप्नमें भी विचार नहीं था कि अब इसी स्थितिमें लौटकर फिर इसी जगह गङ्गाकिनारे आना पड़ेगा। मैं अपनेको पूर्ण त्यागका अधिकारी मान बैठा था। सोचता था—'चलो, पिण्ड छूटा, अब न लिखना पड़ेगा, न पढ़ना। बस—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।

यही जीवनभर एकमात्र रट रहेगी। कलमका अब क्या काम?'

कानपुरके समीप नानामऊ नामक एक स्थानमें पूज्यपाद श्रीअनंगबोधाश्रमजी महाराज मिले। उनसे तीन-चार वर्ष पूर्वका ही परिचय था। तितिक्षाकी तो साक्षात् मूर्ति हैं। मैंने अपने जीवनभरमें इतनी तितिक्षा करनेवाला दूसरा व्यक्ति आजतक नहीं देखा। ये महापुरुष दस-पंद्रह वर्षसे सदा दिगम्बर-वेषमें ही रहते हैं। जाड़ा हो, गर्मी हो, चाहे मूसलाधार जल गिरता हो, ये सदा नंगे ही रहते हैं। माघ-पूसके जाड़ेमें गङ्गाजीके किनारे कितनी सर्दी होती है, इसे गङ्गाकिनारेपर रहनेवाले व्यक्ति ही समझ सकते हैं, परन्तु वहाँ नंगे रहनेवाले व्यक्ति मैंने और भी बहुत-से देखे हैं, किन्तु ये महापुरुष तो ज्येष्ठ-वैशाखकी धूपमें बारह बजेसे चार बजेतक गङ्गाजीकी दहकती बालूमें जान-बूझकर पड़े रहते हैं। कोई पुरुष इसका अनुमान भी नहीं लगा सकता। किन्तु यह कविकल्पना थोड़े ही है, प्रत्यक्ष बात है। वे महापुरुष कहीं चले थोड़े ही गये हैं, अब भी गङ्गाकिनारे वे कहीं तपी हुई बालूमें ही पड़े होंगे। ये अधिकतर

फतहपुर (या शायद उन्नाव) के जिलेमें 'बक्सर' नामक ग्राममें कभी-कभी दो-चार महीनेके लिये ठहर जाते हैं । नहीं तो काशीसे हृषिकेशतक गङ्गाके किनारे-किनारे ही विचरते रहते हैं । काशीसे आगे नहीं बढ़ते और हृषिकेश-से ऊपर नहीं चढ़ते । सहसा पड़े हुए मिल गये । मुझे टाटकी लँगोटी पहने देखकर हँसने लगे, बोले—'लिखना-पढ़ना बिल्कुल छोड़ दिया न ? अब तो लिखने-पढ़नेकी कोई वासना नहीं है ?' मैंने कुछ गर्वपूर्ण नम्रताके साथ कहा—'जी नहीं, अब कोई वासना नहीं । सब फेंक-फाँक आया ।' आप हँसने लगे और बोले—'यह शास्त्र-वासना भी बड़ी प्रबल वासना होती है, इसका छूटना बड़ा कठिन है, चलो, भगवान्‌की तुम्हारे ऊपर बड़ी कृपा हुई जो तुम्हारी यह वासना छूट गयी ।' मैं चुप रहा । वहीं निश्चय हुआ कि हरिद्वारतक साथ-ही-साथ चलेंगे । किन्तु हमारा-उनका साथ कैसा ? वे महापुरुष यदि चलें तो एक दिनमें पचास-पचास साठ-साठ मील चले जायँ और न चलें तो दस-दस बीस-बीस दिन एक ही स्थानपर पड़े रहें । चलते समय वे रात्रि, दिन, दोपहरी, वर्षा किसीकी भी परवा नहीं करते थे । अस्तु, मैंने कहा—'जहाँतक चल सकेंगे साथ-साथ चलेंगे ।'

उन महापुरुषके साथ मैं चलने लगा । उनसे किसी प्रकारका सङ्कोच या भय तो था ही नहीं । जिस प्रकार निर्भीक पुत्र अपने सरल पितासे सभी बातें बिना किसी सङ्कोचके करता है, उसी प्रकार उनसे बातें होतीं । उनके जीवनमें सचमुच मस्ती थी । मुझसे वे अनुमानसे दुगुने लंबे होंगे । लंबा और इकहरा पतला शरीर था, चिरकालकी घोर तितिक्षाके कारण उनके शरीरका चर्म जंगली भैंसेके समान काला और मोटा पड़ गया था, दूरसे देखनेसे बिल्कुल प्रेत-से प्रतीत होते । जब वे अपने सम्पूर्ण शरीरमें गङ्गारज लपेट लेते तब तो उनके देव होनेमें किसीको सन्देह ही न रहता । गङ्गाजीकी धाराको छोड़कर वे पगभर भी

नहीं जाते थे । बिल्कुल तीरपर ही कोई गाँव मिल जाय तो भिक्षा कर ली, नहीं तो हरि-इच्छा । माताके दर्शनोंसे वे अपनेको वञ्चित रखना नहीं चाहते थे ; जिसकी मर्जी हो तो ठहरो । दिनमें बीसों बार गङ्गाजीको पार करते, कभी इस पारपर चलने लगते तो कभी उस पार पहुँच जाते । गर्मियोंमें प्रायः सर्वत्र ही गङ्गाजी पार उतरनेयोग्य हो जाती हैं, वे घाट-कुघाटकी कुछ भी परवा नहीं करते; जहाँ मौज आयी वहीं पार हो गये । भय तो उन्हें होता ही किसका था । मैं भी उनका अनुकरण और अनुसरण करने लगा । एक स्थानपर पार उतर रहे थे, उनके पास तो कुछ वस्त्र या पात्र था ही नहीं, जल्दीसे पार हो गये । मेरे पास जलपात्र था, लँगोटी थी और एक खद्दरकी चादर थी । जल अधिक था, मेरी लँगोटी आदि भीग गयी । वे महापुरुष हँसकर बोले—'ब्रह्मचारी ! इस लँगोटीकी भी इज्जत ही है, इसे भी फेंक दो ।' बस, इतना सुनना था, कि मैंने लँगोटी फेंक दी । चदरा फेंक दिया और कमण्डलु भी इधर-उधर लुढ़कने लगा । उस समय अपनेको दिगम्बर-वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आनन्द आया। वे महापुरुष जोरोंसे हँसते हुए कहने लगे—'अभी नहीं भाई ! अभी नहीं । अभी तो इतने वस्त्र ठीक ही हैं । जब लँगोटी छोड़नेका समय आवेगा, तब मैं बताऊँगा ।' मैंने भी कुछ बिल्कुल छोड़नेकी इच्छासे लँगोटी नहीं फेंकी थी; उनकी आज्ञा पाते ही लँगोटी पहन ली ।

इस बातका कटु अनुभव मुझे वहीं हुआ कि शरीरका प्रारब्ध महापुरुषोंको भी नहीं छोड़ता । शारीरिक दुःख-सुख सभीको भोगने पड़ते हैं, किन्तु भगवत्परायण विरागी पुरुष उन्हें अपनेमें नहीं समझता । वह द्रष्टाकी भाँति दूर खड़ा होकर दुःख-सुखको देखता रहता है । इतने बड़े तितिक्षु महापुरुषको भी शारीरिक पीड़ा बेचैन बनाये हुए थी । उनके आधे मस्तकमें घोर दर्द हो रहा था, उनकी पीड़ा असह्य थी, किन्तु वे उसे बड़े साहसके साथ सहन कर रहे थे । मुझे पेटकी भयङ्कर

पीड़ा प्रायः होती है, उसी अनुभवके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि उनकी पीड़ा बड़ी ही भयङ्कर थी, वे उसके कारण बेचैन थे। उन्हें कहीं लक्ष्य बनाकर जाना-आना तो था ही नहीं। उनकी मौज आती फिर पीछे लौट जाते। मेरा तो लक्ष्य अति शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना था, अतः वे महात्मा एक स्थानपर हट गये। मैं रामबाबाजीके साथ उनकी चरण-वन्दना करके आगे चल पड़ा। मैं उनके दुःखको किसी प्रकार सह ही नहीं सकता था, जानेकी शीघ्रताके कारण मैं उनके साथके लिये नहीं रुक सका।

रास्तेमें मैं सोचता था—'ये महापुरुष कहते हैं, अभी नहीं, अभी कुछ देरी है। मुझे अब क्या देरी है। नीचे कुछ लोगोंका सङ्कोच अवश्य है। पहाड़पर आप-से-आप लँगोटी उतर पड़ेगी, फिर पैसा नहीं करूँगा।' कौन जानता था कि लँगोटीके साथ कम्बल और बिछौना-ओढ़ना भी रखना पड़ेगा।

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबा उन दिनों कासगंजमें पधारे हुए थे। सोरोंसे हम गङ्गाकिनारा छोड़कर उनके दर्शनोंके लिये गये। परम वात्सल्य-स्नेह प्रकट करते हुए रामबाबाजीसे मेरी सभी छोटी-बड़ी बातें पूछीं, मेरे पैरोंमें बड़ी-बड़ी बिवाइयोंको देखकर उनका नवनीतके समान स्निग्ध हृदय वात्सल्य-स्नेहके कारण द्रवीभूत होने लगा। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भैया! इतनी तितिक्षा ठीक नहीं। थोड़ा कम चला करो।' किन्तु मैं तो इसे तितिक्षा समझता ही नहीं था। शीघ्र-से-शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना ही मेरा लक्ष्य था। उन दिनों "कल्याण" का श्रीकृष्णाङ्क निकलनेवाला था। महाराज उसके लिये माँगे गये लेखों-की विषय-सूची पढ़वा रहे थे। बीचमें ही आप कहने लगे—'अमुक विषयपर तो ब्रह्मचारीजी बड़ा अच्छा लिखते।'

किसी सत्सङ्गी बन्धुने कहा—'ब्रह्मचारीजीने तो कलमसे लिखना अब छोड़ ही दिया है।'

महाराजने सरलताके साथ कहा—'भैया ! अभी क्या पता। हाँ, इस समय तो छोड़ ही दिया है, भविष्यकी भगवान् जानें।'

इससे मुझे कुछ-कुछ भय-सा हुआ 'क्या सचमुच मुझे फिर लौटकर लिखना-पढ़ना पड़ेगा। महापुरुषोंके वाक्य अन्यथा थोड़े ही होते हैं। श्रावणमें ही मुझे पहाड़से लौटकर यहाँ आना पड़ा और जो कुछ हुआ वह पाठकोंके सम्मुख है। मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको श्रीचैतन्य-चरितावलीका लिखना प्रारम्भ किया और आज वैशाखी पूर्णिमाको इसकी परिसमाप्ति हो गयी। इसके बीचमें जो शारीरिक क्लेश हुए उनका उल्लेख करना विषयान्तर हो जायगा। और पाठकोंको उससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं यह तो मेरा निजी रोना है।

मुझे न अपने इस नीचे लौटनेका दुःख है और न मेरे पहले लक्ष्यमें किसी प्रकारका परिवर्तन ही हुआ है। इस बातको अब भी मैं मानता हूँ कि बिना सर्वस्व त्याग किये श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति बहुत कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। और त्यागमय जीवन बितानेके लिये (१) भक्त और भगवल्लीलाओंका श्रवण, (२) नामजप और (३) महात्माओंका पादोदक-पान—ये तीन ही प्रधान और सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। जिसे भगवान्-के किसी भी नाममें श्रद्धा नहीं, जिसे भगवान् और भक्तोंकी लीलाओंके श्रवणमें आनन्द नहीं आता और जो महात्माओंकी चरण-धूलिको मस्तक-पर चढ़ाने तथा उनके पादोदक पान करनेमें सङ्कोच करता है, वह कभी भी श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका अधिकारी नहीं हो सकता। इन साधनोंके ही द्वारा त्यागमय जीवन अपने-आप बन जाता है और त्यागमय जीवन होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्ति हो जाना अनिवार्य ही है। श्रीकृष्ण न जाने क्यों हृदयमें अकेले ही रहना अधिक पसंद करते हैं। जिस हृदयमें संसारी प्रिय पदार्थोंके प्रति परिग्रहके भाव हैं, जहाँ विषय-सुखकी वासनाएँ

विराजमान है, जहाँ संसारी द्रव्य संग्रह करनेकी इच्छा है, श्रीकृष्ण उस स्थानसे दूर भाग जाते हैं। उन कृपालु कृष्णने कहा—'अभी तुम्हें और साधना करनी होगी, साधन करो, भक्तोंका पादोदक पान करो, श्रीमद्भागवतका श्रवण करो, भक्तोंके चरित्र सुनो, तब तुम्हें मेरी उपलब्धि हो सकेगी।' क्या करता! किसीको स्त्री-पुत्रोंका, किसीको धनका, किसीको तप-वैराग्यका और किसीको विद्याका सहारा होता है, किन्तु यहाँ तो इनमेंसे कोई भी वस्तु अपने पास नहीं है। यदि थोड़ा-बहुत कुछ सहारा कहिये, विश्वास समझिये उसी गिरिधर गोपालका है। दूसरा कौन इस उभयभ्रष्ट व्यक्तिको सहारा दे सकता है। उस कृपालु कृष्णने अपार कृपा की। यहाँ लाकर पटक दिया। साधु-सङ्गका सुयोग प्राप्त कराया, चैतन्य-चरित्र लिखाया, अपना सुयश सुनवाया और गङ्गामाताका नित्यप्रतिका 'दरस-परस अरु मज्जन पान' प्रदान किया। वे चाहते तो जिगयोंमें भी लाकर पटक देते, किन्तु वे दयामय बड़े ही कृपालु हैं। निर्बलोंको वे स्वयं ही सहायता करते हैं, किन्तु निर्बल भी सच्चा और सरल होना चाहिये, जिसे दूसरेका सहारा ही न हो, यहाँ तो इतनी सचाई और सरलता प्रतीत नहीं होती, फिर भी वे अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं, यह उनकी स्वाभाविक भक्तवत्सलता ही है।

इन पाँच महीनोंमें निरन्तर चैतन्य-चरित्रोंका चिन्तन होता रहा। उठते-बैठते, सोते-जागते, नहाते-धोते, खाते-पीते, भजन-ध्यान, पाठ-पूजा और जप करते सब समय चैतन्य ही साथ बने रहे। मैंने उन्हें शची-माताकी गोदमें बालकरूपसे देखा और गम्भीरा मन्दिरमें रोते हुए भी उनके दर्शन किये। प्यारे सखाकी तरह छायाकी तरह वे सदा मेरे साथ ही बने रहे। मैंने उन्हें खेलते देखा, पढ़ते देखा, पढ़ाते देखा, गया जाते देखा, आते देखा, रोते-चिल्लाते देखा, सङ्कीर्तन करते देखा, भावावेशमें देखा, भक्तोंकी पूजा ग्रहण करते देखा, उन्मादी देखा, विक्षिप्तावस्थामें देखा,

गृह त्याग करते देखा, संन्यास लेते हुए देखा, पुरी जाते हुए देखा, सार्वभौमका उद्धार करते देखा, दक्षिणके तीर्थोंमें भ्रमण करते देखा, रामानन्दजीके साथ कथोपकथन करते देखा, तीर्थ-यात्रा करते देखा, पुनः पुरीमें लौटते हुए देखा, भक्तोंसे बातें करते देखा, उनके यहाँ भिक्षा करते देखा, रथके आगे हाथ उठा-उठाकर नृत्य करते देखा, प्रतापरुद्रदेवको प्रेम प्रदान करते हुए देखा, लीला करते देखा, नाचते हुए देखा, भक्तोंके साथ रोते हुए देखा, वृन्दावन जाते हुए देखा, शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर रहते हुए देखा, विष्णुप्रियाजीको पादुका प्रदान करते हुए देखा, रूप-सनातनसे बातें करते देखा, लौटते देखा, फिर वन-पथसे वृन्दावनकी ओर जाते देखा, काशीमें देखा, प्रयागमें देखा, वृन्दावनमें देखा, आते हुए देखा, श्रीमद्वल्लभाचार्यके साथ प्रेमवार्ता करते देखा, संन्यास-वेषधारी रूपको उपदेश देते देखा, काशीमें अत्यन्त नम्र हुए संन्यासी-सभामें उनकी मनमोहिनी सरल बातें सुनीं। वहाँ उन्हें परम विनयीकी भाँति सरल और सीधे संन्यासीके रूपमें देखा, वहाँसे चलते हुए उनके साथ-ही साथ पुरीमें आया। पुरीमें उनकी जिस-जिस भक्तसे भेंट हुई, जिस-जिससे उन्होंने बातें की मैं एक तटस्थ व्यक्ति-की भाँति दूर खड़ा हुआ उनकी बातें सुनता रहा। निरन्तर महाप्रभुके साथ रहनेसे मैं उनके सभी भक्तोंसे भलीभाँति परिचित हो गया, वे कैसे बातें करते थे, प्रभु उन्हें कैसे उत्तर देते थे, बात करते समय भक्तोंकी कैसी चेष्टा हो जाती थी, प्रभु-प्रेमके आवेशमें कैसी भङ्गी बनाकर बातें करते थे, इन बातोंको मैंने अपने सम्मुख ही प्रत्यक्ष रीतिसे देखा। अवधूत नित्यानन्द, राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप गोस्वामी, जगदानन्द पण्डित, वक्रेश्वर पण्डित, हरिदास, रूप, सनातन, जीव, गोपालभट्ट, रघुनाथदास तथा अन्यान्य जितने भी पृथक्-पृथक् स्थानोंके भक्त हैं, उन सबसे ही प्रगाढ़ परिचय हो गया। उपर्युक्त महानुभावोंमें-

से अब भी कोई आ जाय तो मुझे वे चिरपरिचित-से ही प्रतीत होंगे । यह मैं कुछ अभिमानकी नीयतसे नहीं, सत्य-सत्य घटना कह रहा हूँ कि लिखते समय मुझे कुछ भी पता नहीं रहता था कि मैं क्या लिख रहा हूँ और कहाँ लिख रहा हूँ ? हाथ कुछ लिखता जाता था, मैं प्रत्यक्ष उस घटनाको अपनी आँखोंके सामने होती हुई-सी देखता था, क्या लिखा गया और क्या नहीं लिखा गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं चलता । मानो कोई लिखनेवाला व्यक्ति और ही है और मैं तो उन लीलाओंका द्रष्टामात्र हूँ । चैतन्य मुझे जानते हैं, वे मुझे कहीं भी साथ ले जानेमें आपत्ति नहीं करते । यही नहीं किन्तु वे मुझे सदा अपने साथ रखते हैं और मैं उनसे छिपकर उनकी सभी बातें देख रहा हूँ यही भाव मेरा रहता । यह ग्रन्थ इतनी जल्दी कैसे लिखा गया, इसका मुझे स्वयं पता नहीं । क्या लिखा गया, इसे तो मैं जब ग्रन्थ छपकर मेरे पास आ जायगा तब पाठककी हैसियतसे पढ़कर बता सकूँगा । अबतक तो लिखते समय यही प्रतीत हुआ कि कोई लिखवा रहा है, हाथ लिख रहा है, मैं उस घटनाका आनन्द लूट रहा हूँ । रात्रिमें लिखे हुएकी जो कथा सुनाते उसमें मेरी दृष्टि 'एक भाषा-संशोधक' व्यक्तिकी-सी रहती, मानो किसीकी लिखी हुई भाषाको संशोधन कर रहा हूँ । 'का' की जगह 'की' क्यों कर दी । यहाँ यह विभक्ति उपयुक्त नहीं, अमुक शब्द छूट गया, बस इतना ही विचार रहता । इसलिये क्या लिखा गया इसे मैं नहीं जानता । पुस्तक छपकर आवेगी, तो वह जितनी ही पाठकोंको नयी होगी उतनी ही मेरे लिये भी । मैं भी उसे पढ़कर मनन करूँगा ।

यह मैं फिर स्पष्ट बताये देता हूँ कि केवल 'चैतन्यभागवत' और 'चैतन्यचरितामृत' से केवल इसकी कथानक घटनाएँ ही ली गयी हैं, बाकी तो यह नानापुराणनिगमागमसम्मत जो ज्ञान है उसीके आधारपर लिखी गयी है । 'अमियनिमाईचरित' की मैंने केवल सूचीभर देखी

है। मैंने उसे बिल्कुल पढ़ा ही नहीं। तब मैं कैसे कहूँ कि उसमें क्या है। घटना तो उन्होंने भी इन्हीं ग्रन्थोंसे ली होगी और क्या है, इसका मुझे कुछ पता नहीं।[1] 'चैतन्यमंगल' भावुक भक्तोंकी चीज है, इसलिये मुझ-जैसे शुष्क-चरितलेखकोंके यह कामकी विशेष नहीं है, इसलिये उसकी घटनाओंका आश्रय बहुत ही कम लिया गया है। घटना-क्रम देखनेके लिये पुस्तकें पढ़ता नहीं तो दिन-रात चिन्तनमें ही बीतता।

पहले इच्छा थी चैतन्यसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका विस्तारके साथ वर्णन करें, चैतन्यजीवनसे क्या सीखना चाहिये, इस बातको भूमिकामें बताऊँ तथा अन्यान्य बहुत-सी बातोंका यहीं भूमिकामें उल्लेख करूँ, किन्तु अब सोचा—'इन बातोंका चैतन्यचरित्रसे क्या सम्बन्ध? तुम यथा-शक्ति जैसे हे कराये घटनाओंका उल्लेख कर दो। पाठक स्वयं ही निर्णय कर लेंगे।[2] यही बात मुझे उचित भी प्रतीत हुई। इसलिये इन बातोंका भूमिकामें उल्लेख नहीं किया। चैतन्य-चरित्रसे हमें क्या सीखना चाहिये, चैतन्यदेवके भाव कैसे थे, उनका जीवन कितना विशुद्ध, प्रेममय, विरहमय और मस्तीमय था इन सभी बातोंको पाठक इस सम्पूर्ण पुस्तकको पढ़कर स्वयं ही समझनेकी चेष्टा करें। लेखककी बुद्धिके ही ऊपर अवलम्बित न रहें।

एक निवेदन उन परम पूज्य साम्प्रदायिक भक्तोंके श्रीचरणोंमें और करना है, जो श्रीचैतन्यदेवको साक्षात् श्रीकृष्ण और अवतारी समझकर मानते और पूजते हैं। उन परम श्रद्धास्पद महानुभावोंके पूज्य पादोंमें इतना ही निवेदन है कि इस पुस्तकमें कहीं भी इस बातकी चेष्टा नहीं की गयी कि उनकी मान्यतामें व्याघात हो किन्तु यह बात ध्रुव सत्य है, कि यह चरित्र भक्त गौराङ्गका है, भगवान् गौराङ्गका नहीं और परम भागवत भक्त ईश्वरका ही स्वरूप है, उसमें और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं। अतः वे भाई मेरे ऊपर कोप न करें। वे यही समझें कि यह पुस्तक

अधूरा ही है। चैतन्यदेवने भक्तवेश तो धारण किया ही था। भक्त बन-कर ही, उन्होंने लीला की थी। बस, इतना ही वे इस पुस्तकमें समझें। वे साक्षात् 'परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम' थे इस बातका इस पुस्तकमें कहीं खण्डन नहीं किया गया है, साथ ही इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा भी नहीं की गयी है। लेखक इससे एकदम तटस्थ ही रहा है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रचारकी दृष्टिसे लिखा भी नहीं गया है। साम्प्रदायिक भावोंका प्रचार करनेवाले तो बहुत-से ग्रन्थ हैं, यह तो चैतन्यदेवको भक्त मानकर उनके त्याग, वैराग्य और प्रेमके भावोंको सार्वदेशिक बनानेकी नीयतसे लिखा गया है। 'चैतन्य-चरितावली' के चैतन्य किसी एक ही देश, एक ही सम्प्रदाय और एक ही भावके लोगोंके न होकर वे सार्वदेशिक हैं। उनके ऊपर सभीका समान अधिकार है, इसलिये साम्प्रदायिक बन्धु मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें।

मुझमें न तो विद्या है, न बुद्धि, चैतन्य-चरित्र लिखनेके लिये जितनी क्षमता, दक्षता, पटुता, सच्चरित्रता, एकनिष्ठा, सहनशीलता, भक्ति, श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है, उसका सहारा भी मैं अपने-में नहीं पाता। फिर भी इस कार्यको करानेके लिये मुझे ही निमित्त बनाया गया है, यह उस कालेचैतन्यकी इच्छा। वह तो मूकको भी वाचाल बना सकता है और पङ्गुसे भी पर्वतलङ्घन करा सकता है। इसलिये अपने सभी प्रेमी बन्धुओंसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे मेरे कुल-शील, विद्या-बुद्धिकी ओर ध्यान न दें। वे चैतन्यरूपी मधुर मधुके रसास्वादनसे ही अपनी रसनाको आनन्दमय बनावें।

श्रीस्वामी विष्णुपुरी नामक एक परमहंसजीने श्रीमद्भागवतसे कुछ सुन्दर-सुन्दर श्लोकोंको चुनकर 'भक्तिरत्नावली' नामक एक पुस्तक बनायी है। उसके अन्तमें उन्होंने जो श्लोक लिखा है उसे ही लिखकर मैं इस अन्तिम वक्तव्यको समाप्त करता हूँ—

एतस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोऽपि कुत्र ध्रुवं
मध्ये भक्तजनस्य मे कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम् ।
किंविद्याः सरघाः किमुज्ज्वलकुलाः किंपौरुषाः किंगुणा-
स्तत् किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नोपीयते तन्मधु ॥

'यद्यपि मुझ बुद्धिहीन व्यक्तिमें एक भी गुण नहीं है, तो भी मैं रसिक भक्तोंके बीचमें अवज्ञाको प्राप्त न हो सकूँगा । मधुर रसके उपासक भक्त तो मीठेके लोलुप होते हैं, वह मिठास किसके द्वारा लाया गया है, इसकी वे कुछ भी परवा नहीं करते । मधुकी मक्खीमें शिक्षा नहीं है, उसका उज्ज्वल कुलमें जन्म भी नहीं हुआ है, वह नन्ही-सी मक्खी स्वयं पुरुषार्थ करके मधु बनानेमें भी असमर्थ है, उसमें स्वयं कोई गुण भी नहीं । किन्तु वह छोटे-बड़े हजारों पुष्पोंसे थोड़ा-थोड़ा मधु लाकर उसे छत्ते-में इकट्ठा कर देती है । लोग फूलोंका नाम भूलकर उसे मक्खियोंका 'मधु' कहने लगते हैं । उनके इन अवगुणोंके कारण, रसिकजन क्या उस सुन्दर मधुका अनादर कर देते हैं ? नहीं, वे उसे आदरके साथ सेवन करते हैं ।' यही विनय इस क्षुद्र दीन-हीन-कंगाल लेखककी भी है । इति शम् ।

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे ! हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

श्रीहरिबाबाका बाँध गँवा (बदायूँ) वैशाखी पूर्णिमाका प्रातःकाल सं० १९८९	भक्तचरणदासानुदास प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

छोटे हरिदासको स्त्री-दर्शनका दण्ड

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त! हन्त! विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदयना० ८।२४)

सचमुच संसारके आदिसे सभी महापुरुष एक स्वरसे निष्किञ्चन, भगवद्भक्त अथवा त्यागी वैरागीके लिये कामिनी और काञ्चन—इन दोनों वस्तुओंको विष बताते आये हैं। उन महापुरुषोंने संसारके सभी प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका वर्गीकरण करके समस्त विषय-सुखोंका समावेश इन दो ही शब्दोंमें कर दिया है। जो इन दोनोंसे बच गया-वह इस अगाध समुद्रके परले पार पहुँच गया, और जो इनमें फँस गया वह

* महाप्रभु चैतन्यदेव सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहते हैं—

खेदके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग इस अपार संसाररूपी समुद्रके उस पार जाना चाहते हैं और जिनका भगवान्के भजनकी ओर झुकाव हो चला है, ऐसे निष्किञ्चन भगवद्भक्तके लिये स्त्रियों और विषयी पुरुषोंका स्वेच्छासे दर्शन करना विष खा लेनेसे भी बुरा है अर्थात् स्त्रियों और विषयी लोगोंके संसर्गकी अपेक्षा विष खाकर मर जाना सर्वश्रेष्ठ है।

मँझधारमें डुबकियाँ खाता बिलबिलाता रहा। कबीरदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

> चलन चलन सब कोइ कहे, बिरला पहुँचे कोय।
> एक 'कनक' अरु 'कामिनी', घाटी दुरलभ दोय॥

यथार्थमें इन दो घाटियोंका पार करना अत्यन्त ही कठिन है, इसीलिये महापुरुष स्वयं इनसे पृथक् रहकर अपने अनुयायियोंको कहकर, झिड़ककर, प्रसन्न होकर, नाराज होकर तथा भाँति-भाँतिसे सुना-सिखाकर इन्हीं दो वस्तुओंसे पृथक् रहनेका उपदेश देते हैं। त्याग और वैराग्यके साकार स्वरूप महाप्रभु चैतन्यदेवजी भी अपने विरक्त भक्तोंको सदा इनसे बचे रहनेका उपदेश करते और स्वयं भी उनपर कड़ी दृष्टि रखते। तभी तो आज त्यागिशिरोमणि श्रीगौरका यशसौरभ दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त हो रहा है। व्रजभूमिमें असंख्यों स्थान महाप्रभुके अनुयायियोंके त्याग-वैराग्यका अभीतक स्मरण दिला रहे हैं।

पाठक महात्मा हरिदासजीके नामसे तो परिचित ही होंगे। हरिदासजी वयोवृद्ध थे और सदा नाम-जप ही किया करते थे। इनके अतिरिक्त एक दूसरे कीर्तनिया हरिदास और थे। वे हरिदासजीसे अवस्थामें बहुत छोटे थे, गृहत्यागी थे और महाप्रभुको सदा अपने सुमधुर स्वरसे संकीर्तन सुनाया करते थे। भक्तोंमें वे 'छोटे हरिदास' के नामसे प्रसिद्ध थे। वे पुरीमें ही प्रभुके पास रहकर भजन-सङ्कीर्तन किया करते थे।

प्रभुके समीप बहुत-से विरक्त भक्त पृथक्-पृथक् स्थानोंमें रहते थे। वे सभी भक्तिके कारण कभी-कभी प्रभुको अपने स्थानपर बुलाकर भिक्षा कराया करते थे। भक्तवत्सल गौर उनकी प्रसन्नताके निमित्त उनके यहाँ चले आते थे और उनके भोजनकी प्रशंसा करते हुए भिक्षा भी पा लेते

स्नेह रखते थे। माधवी दासी परम तपस्विनी और सदाचारिणी थी। इन तीनोंका ही महाप्रभुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग था। महाप्रभु माधवी दासीकी गणना राधाजीके गणोंमें करते थे। उन दिनों राधाजीके गणोंमें साढ़े तीन पात्रोंकी गणना थी—(१) स्वरूप-दामोदर, (२) राय रामानन्द, (३) शिखि माहिती और आधे पात्रमें माधवीदेवीकी गणना थी। इन तीनोंका महाप्रभुके प्रति अत्यन्त ही मधुर श्रीमतीजीका-सा सरस भाव था।

भगवानाचार्यजीने प्रभुके निमन्त्रणके लिये बहुत बढ़िया महीन शुक्ल चावल लानेके लिये छोटे हरिदासजीसे कहा। छोटे हरिदासजी माधवी दासीके घरमें भीतर चले गये और भीतर जाकर उनसे चावल माँगकर ले आये। आचार्यने विधिपूर्वक चावल बनाये। कई प्रकारके शाक, दाल, पना तथा और भी कई प्रकारकी चीजें उन्होंने प्रभुके निमित्त बनायीं। नियत समयपर प्रभु स्वयं आ गये। आचार्यने इनके पैर धोये और सुन्दर-स्वच्छ आसनपर बैठाकर उनके सामने भिक्षा परोसी। सुगन्धियुक्त बढ़िया चावलोंको देखकर प्रभुने पूछा—'भगवान! ये ऐसे सुन्दर चावल कहाँसे मँगाये?'

सरलताके साथ भगवानजीने कहा—'प्रभो! माधवीदेवीके यहाँसे मँगाये हैं।'

सुनते ही महाप्रभुके भावमें एक प्रकारका विचित्र परिवर्तन-सा हो गया। उन्होंने गम्भीरताके साथ पूछा—'माधवीके यहाँसे लेने कौन गया था?'

उसी प्रकार उन्होंने उत्तर दिया—'प्रभो! छोटे हरिदास गये थे।'

यह सुनकर महाप्रभु चुप हो गये और मन-ही-मन कुछ सोचने लगे। पता नहीं वे हरिदासजीकी किस बातसे पहलेसे ही असन्तुष्ट थे।

उनका नाम सुनते ही वे भिक्षासे उदासीन-से हो गये। फिर कुछ सोचकर उन्होंने भगवान्के प्रसादको प्रणाम किया और अनिच्छापूर्वक कुछ थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया। आज वे प्रसाद पाते समय सदाकी भाँति प्रसन्न नहीं दीखते थे, उनके हृदयमें किसी गहन विषयपर द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था। भिक्षा पाकर वे सीधे अपने स्थानपर आ गये। आते ही उन्होंने अपने निजी सेवक गोविन्दको बुलाया। हाथ जोड़े हुए गोविन्द प्रभुके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसे देखते ही प्रभु रोषके स्वरमें कुछ दृढ़ताके साथ बोले—'देखना, आजसे छोटा हरिदास हमारे यहाँ कभी न आने पावेगा। यदि उसने भूलमें भी हमारे दरवाजेमें प्रवेश किया तो फिर हम बहुत अधिक असन्तुष्ट होंगे। मेरी इस बातका ध्यान रखना और दृढ़ताके साथ इसका पालन करना।'

गोविन्द सुनते ही सन्न रह गया। वह प्रभुकी इस आज्ञाका कुछ भी अर्थ न समझ सका। धीरे-धीरे वह प्रभुके पाससे उठकर स्वरूप गोस्वामीके पास चला गया। उसने सभी वृत्तान्त उनसे कह सुनाया। सभी प्रभुकी इस भीषण आज्ञाको सुनकर शंकित हो गये। प्रभु तो ऐसी आज्ञा कभी नहीं देते थे। वे तो पतितोंसे भी प्रेम करते थे, आज यह बात क्या हुई। वे लोग दौड़े-दौड़े हरिदासके पास गये और उसे सब सुनाकर पूछने लगे—'तुमने ऐसा कोई अपराध तो नहीं कर डाला जिससे प्रभु इतने क्रुद्ध हो गये?' इस बातके सुनते ही छोटे हरिदासका मुख सफेद पड़ गया। उसके होश-हवास उड़ गये। अत्यन्त ही दुःख और पश्चात्तापके स्वरमें उसने कहा—'और तो मैंने कोई अपराध किया नहीं, हाँ, भगवानाचार्यके कहनेसे माधवी दासीके घरसे मैं थोड़े-से चावलोंकी भिक्षा अवश्य माँग लाया था।'

सभी भक्त समझ गये कि इस बातके अंदर अवश्य ही कोई गुप्त रहस्य है। प्रभु इसीके द्वारा भक्तोंको त्याग-वैराग्यकी कठोरता समझाना

ले आते थे। उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नता-पूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उनसे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

> शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
> न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
> हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः
> पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*
>
> (सु० र० भां० ३६५ । ७२)

---

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वह यह है ([illegible]) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रखना चाहिये, क्योंकि [illegible] न - सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने [illegible] है चित्तको भी, [illegible] लेती है।

चाहते हैं। सभी मिलकर प्रभुके पास गये और प्रभुके पैर पकड़कर प्रार्थना करने लगे—'प्रभो ! हरिदास अपने अपराधके लिये हृदयमें अत्यन्त ही दुखी हैं। उन्हें क्षमा मिलनी चाहिये। भविष्यमें उनसे ऐसी भूल कभी न होगी। उन्हें दर्शनोंसे वञ्चित न रखिये।'

प्रभुने उसी प्रकार कठोरताके स्वरमें कहा—'तुमलोग अब इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहो। मैं ऐसे आदमीका मुख भी देखना नहीं चाहता जो वैरागीका वेष बनाकर स्त्रियोंसे सम्भाषण करता है।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ स्वरूप गोस्वामीने कहा—'प्रभो ! उनसे भूल हो गयी, फिर माधवीदेवी तो परम साध्वी भगवद्भक्तिपरायणा देवी हैं, उनके दर्शनोंके अपराधके ऊपर इतना कठोर दण्ड न देना चाहिये।'

प्रभुने दृढ़ताके साथ कहा—'चाहे कोई भी क्यों न हो ! स्त्रियोंसे बात करनेकी आदत पड़ना ही विरक्त साधुके लिये ठीक नहीं। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा है कि अपनी सगी माता, बहिन और युवती लड़कीसे भी एकान्तमें बातें न करनी चाहिये। ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि अच्छे-अच्छे विद्वानोंका मन भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।' प्रभुका ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर और उनके स्वरमें दृढ़ता देखकर फिर किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ।

हरिदासजीने जब सुना कि प्रभु किसी भी तरह क्षमा करनेके लिये राजी नहीं हैं, तब तो उन्होंने अन्न-जल बिलकुल छोड़ दिया। उन्हें तीन दिन बिना अन्न-जलके हो गये, किन्तु प्रभु अपने निश्चयसे तिलभर भी न डिगे। तब तो स्वरूप गोस्वामीजीको बड़ी चिन्ता हुई। प्रभुके पास रहनेवाले सभी विरक्त भक्त डरने लगे। उन्होंने मैत्रोंसे तो क्या मनसे भी स्त्रियोंका चिन्तन करना त्याग दिया। कुछ विरक्त स्त्रियोंसे भिक्षा

ले आते थे, उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नतापूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उससे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः
विहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*

(शु० र० भां० ३६५। ७२)

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे सुनो; (विरक्त पुरुषोंको) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रहना चाहिये, नहीं रहना चाहिये, क्योंकि हरिणीके समान सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने तीक्ष्ण कटाक्ष बाणोंसे बड़े-बड़े महापुरुषोंके चित्तको भी, जो शान्तिके कवचसे ढँका हुआ है, शीघ्र ही अपनी ओर खींच लेती है।

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ! सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कामोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ! यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा।' यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी-आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जाप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

इसलिये भैया ! मेरे जाने, वह भूखों मर ही क्यों न जाय अब मैं जो निश्चय कर चुका उससे हटूँगा नहीं ।' स्वरूपजी उदास मनसे लौट गये । उन्होंने सोचा—'प्रभु परमानन्दपुरी महाराजका बहुत आदर करते हैं, यदि पुरी उनसे आग्रह करें, तो सम्भवतया ये मान भी जायँ ।' यह सोचकर वे पुरी महाराजके पास गये । सभी भक्तोंके आग्रह करनेपर पुरी महाराज प्रभुसे जाकर कहनेके लिये राजी हो गये । वे अपनी कुटियामेंसे निकलकर प्रभुके शयनस्थानमें गये । पुरीको अपने यहाँ आते देखकर प्रभु उठकर खड़े हो गये और उनकी यथाविधि अभ्यर्चना करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया । बातों-ही बातोंमें पुरीजीने हरिदासका प्रसंग छेड़ दिया और कहने लगे—'प्रभो ! इन अल्प शक्तिवाले जीवोंके साथ ऐसी कड़ाई ठीक नहीं है । बस, बहुत हो गया, अब सबको पता चल गया, अब कोई भूलसे भी ऐसा व्यवहार न करेगा । अब आप उसे क्षमा कर दीजिये और अपने पास बुलाकर उसे अन्न-जल ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दीजिये ।'

पता नहीं प्रभुने उसका और भी पहले कोई ऐसा निन्द्य आचरण देखा था या उसके बहाने सभी भक्तोंको घोर वैराग्यकी शिक्षा देना चाहते थे । हमारी समझमें आ ही क्या सकता है ! महाप्रभु पुरीके कहनेपर भी राजी नहीं हुए । उन्होंने उसी प्रकार दृढ़ताके स्वरमें कहा—'भगवन् ! आप मेरे पूज्य हैं, आपकी उचित-अनुचित सभी प्रकारकी आज्ञाओंका पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, किन्तु न जाने क्यों, इस बातको मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता । आप इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहें ।'

पुरी महाराजने अपने गुरुपनेके सरल भावसे अपना अधिकार-सा दिखाते हुए कहा—'प्रभो ! ऐसा हठ ठीक नहीं होता, जो हो गया, सो

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ? सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कामोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ? यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा। यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

कीर्तनिया हरिदासजीकी समझमें यह बात आ गयी। उसने भक्तोंके आग्रहसे अन्न-जल ग्रहण कर लिया। वह नित्यप्रति दर्शनोंको मन्दिरमें जाते समय दूरसे प्रभुके दर्शन कर लेता और अपनेको अभागी समझता हुआ कैदीकी तरह जीवन बिताने लगा। उसे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था, किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं होती थी, गाना-बजाना उसने एकदम छोड़ दिया। सदा वह अपने असद् व्यवहारके विषयमें ही सोचता रहता। होते-होते उसे संसारसे एकदम वैराग्य हो गया। ऐसा प्रभुकृपाशून्य जीवन बिताना उसे भार-सा प्रतीत होने लगा। अब उसे भक्तोंके सामने मुख दिखानेमें भी लज्जा होने लगी। इसलिये उसने इस जीवनका अन्त करनेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया।

एक दिन अरुणोदय कालमें वह उठा। प्रभु उस समय समुद्र-स्नान करनेके निमित्त जाया करते थे। स्नानको जाते हुए प्रभुके उसने दर्शन किये और पीछेसे उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाकर और कुछ वस्त्रमें बाँधकर श्रीनीलाचलसे चल पड़ा। काशी होता हुआ वह त्रिवेणी-तटपर पहुँचा। जहाँपर गङ्गा-यमुनाके सितासित सलिलका सम्मिलन होता है, उसी स्थानपर धारामें खड़े होकर उसने उच्चस्वरसे कहा—'जिस शरीरने महाप्रभुकी इच्छाके विरुद्ध बर्ताव किया है, हे माता जाह्नवी! हे पतितपावनी श्रीकृष्णसेविता कालिन्दी माँ! दोनों ही माता मिलकर इस अपवित्र शरीरको अपने परम पावन प्रवाहमें बहाकर पावन बना दो। हे अन्तर्यामी प्रभो! यदि मैंने जीवनमें कुछ भी थोड़ा बहुत सुकृत किया हो तो उसके फलस्वरूप मुझे जन्म-जन्मान्तरोंतक आपके चरणोंके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो।' यह कहकर वह जोरोंसे प्रवाहकी ओर लपका। उसकी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके निमित्त दोनों ही माताएँ एक होकर अपने तीक्ष्ण प्रवाहके साथ बहाकर उसके शरीरको साथ ले गयीं।

कोई गौड़ीय वैष्णव भक्त उसकी इन बातोंको सुन रहा था, उसने नवद्वीपमें आकर श्रीवास पण्डितसे यह समाचार सुनाया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'हरिदासने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म कर डाला?'

रथयात्राके समय सदाकी भाँति वे इस बार भी अद्वैताचार्य आदि भक्तोंके साथ नीलाचल पधारे तब उन्होंने प्रभुसे पूछा—'प्रभो! छोटा हरिदास कहाँ है?'

प्रभुने हँसकर कहा—'कहीं अपने दुष्कर्मका फल भोग रहा होगा।'

तब उन्होंने उस वैष्णवके मुखसे जो बात सुनी थी, वह कह सुनायी। इससे पूर्व ही भक्तोंको हरिदासजीकी आवाज एकान्तमें प्रभुके समीप सुनायी दी थी, मानो वे सूक्ष्म शरीरसे प्रभुको गायन सुना रहे हों। तब बहुतोंने यही अनुमान किया था कि हरिदासने विष खाकर या और किसी भाँति आत्मघात कर लिया है और उसीके परिणामस्वरूप उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है या ब्रह्मराक्षस हुआ है, उसी शरीरसे वह प्रभुको गायन सुनाता है। किन्तु कई भक्तोंने कहा—'जो इतने दिन प्रभुकी सेवामें रहा हो और नित्य श्रीकृष्णकीर्तन करता रहा हो, उसकी ऐसी दुर्गति होना सम्भव नहीं। अवश्य ही वह गन्धर्व बनकर अलक्षित भावसे प्रभुको गायन सुना रहा है।' आज श्रीवास पण्डितसे निश्चितरूपसे हरिदासजीकी मृत्युका समाचार सुनकर सभीको परम आश्चर्य हुआ और सभी उनके गुणोंका बखान करने लगे। प्रभुने दृढ़तायुक्त प्रसन्नताके स्वरमें कहा—'साधु होकर स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवालोंको ऐसा ही प्रायश्चित्त ठीक भी हो सकता है। हरिदासने अपने पापके उपयुक्त ही प्रायश्चित्त किया।'

धन माँगनेवाले भृत्यको दण्ड

> धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां
>
> भवति हृदि तदेवानन्दकारीतरेषाम् ।
>
> मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्त-
>
> र्जनयति च स एवाह्लादमन्यत्र गात्रे ॥*
>
> (सु० र० भां० ६७ । १८)

प्रेमरूपी धनकी प्राप्तिमें ही जो सदा यत्नशील रहते हैं, वे उदर-पूर्तिके लिये अन्न और अङ्गरक्षाके लिये साधारण वस्त्रोंके अतिरिक्त किसी प्रकारके धनका संग्रह नहीं करते । धनका स्वभाव है लोभ उत्पन्न करना और लोभसे द्वेषको प्रश्रय मिलता है । जहाँ लोभ रहेगा वहाँ दूसरोंके प्रति द्वेष अवश्य विद्यमान रहेगा । द्वेषसे घृणा होती है और पुरुषोंके प्रति घृणा करना यही नाशका कारण है । इन्हीं सब बातोंको सोचकर तो त्यागी महापुरुष द्रव्यका स्पर्श नहीं करते । वे जहाँतक हो सकता है, द्रव्यसे दूर ही रहते हैं । गृहस्थियोंका तो द्रव्यके बिना काम चलना ही कठिन है, उन्हें तो गृहस्थी चलानेके लिये द्रव्य रखना ही होगा । किन्तु

---

* विषयोंके त्यागसे ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा जिन्हें दृढ़ विश्वास हो गया है उन औचित्यके उपासक महापुरुषोंको दूसरोंके द्वारा दिया हुआ धन भी दुःखदायी ही प्रतीत होता है, वही धन यदि विषयी पुरुषोंके लिये दे दिया जाय तो उनके हृदयमें वह परम आनन्द और आह्लाद उत्पन्न करनेवाला होता है, जिस प्रकार सुगन्धित मलयाचल चन्दनका रस आँखोंमें डालनेसे दुःखदायी प्रतीत होता है और अन्य अङ्गोंमें लगानेसे शीतलता प्रदान करनेवाला होता है ।

उन्हें भी अधर्मसे या अनुचित उपायोंसे धनार्जन करनेकी प्रवृत्तिको एक-दम त्याग देना चाहिये। धर्मपूर्वक न्यायोचित रीतिसे प्राप्त किया हुआ धन ही फलीभूत होता है और वही उन्हें संसारी बन्धनोंसे छुटाकर धीरे-धीरे परमार्थकी ओर ले जाता है। जो संखिया वैसे ही बिना सोचे-विचारे खा लिया जाय तो वह मृत्युका कारण होता है और उसे ही वैद्यके कथनानुसार शोधकर खाया जाय तो वह रसायनका काम करता है, उससे शरीर नीरोग होकर सम्पूर्ण अङ्ग पुष्ट होते हैं। इसलिये वैद्यरूपी शास्त्रकी बतायी हुई धर्मरूपी विधिसे सेवन किये जानेवाला विषरूपी धन भी अमरता प्रदान करनेवाला होता है। महाप्रभु चैतन्यदेव जिस प्रकार स्त्रीसंगियोंसे डरते थे, उसी प्रकार धनलोलुपोंसे भी वे सदा सतर्क रहते थे। जो स्त्रीसेवन अविधिपूर्वक कामवासनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, शास्त्रोंमें उसीकी निन्दा और उसी कामिनीको नरकका द्वार बताया है। जिसका पाणिग्रहण शास्त्रमर्यादाके साथ विधिपूर्वक किया गया है, वह तो कामिनी नहीं, धर्मपत्नी है। उसका उपयोग कामवासनातृप्ति न होकर धार्मिक कृत्योंमें सहायता प्रदान करना है। ऐसी स्त्रियोंका सङ्ग तो प्रवृत्तिमार्गवाले गृहस्थियोंके लिये परम धर्म है। इसी प्रकार धर्मपूर्वक, विधियुक्त, विनय और पात्रताके साथ उपार्जन किया हुआ धन धर्म तथा सुखका प्रधान कारण होता है। उस धनको कोई अन्यायसे अपनाना चाहता है तो वह विषयी है, ऐसे विषयी लोगोंका साथ कभी भी न करना चाहिये।

श्रीअद्वैताचार्य गृहस्थी थे, इस बातको तो पाठक जानते ही होंगे। उनके दो स्त्रियाँ थीं, छः पुत्र थे, दो-चार दासी-दास भी थे, बड़े पुत्र अच्युतानन्दको छोड़कर सभी घर-गृहस्थीवाले थे। सारांश कि उनका परिवार बहुत बड़ा था। इतना बड़ा परिवार होनेपर भी वे भक्त थे। भक्तोंको बहुधा लोग बावला कहा करते हैं। एक कहावत भी है—

भक्त बावले ज्ञानी अटपट, योगी बड़े निखट्टू ।
कर्मकांडी ऐसे डोलैं, ज्यों भाड़ेके टट्टू ॥

अस्तु, बावले भक्तोंके यहाँ 'यह मेरा है, यह तेरा है' का तो हिसाब ही नहीं । जो भी आओ, लूट खाओ । जिसे जिस चीजकी आवश्यकता हो, ले जाओ । सबके लिये उनका दरवाजा खुला रहता है । वास्तवमें उदारता इसीका नाम है । जिसके यहाँ मित्र, अतिथि, स्वजन और अन्य जन बिना संकोचके घरकी भाँति रोज भोजन करते हैं, जिसका हाथ सदा खुला रहता है, वही सच्चा उदार है, वही श्रीकृष्ण-प्रेमका अधिकारी भी होता है । जिसे पैसोंसे प्रेम है, जो द्रव्यका लोभी है, वह भगवान्‌से प्रेम कर ही कैसे सकता है ? वैष्णवोंके लिये अद्वैताचार्य-जीका घर धर्मशाला ही नहीं किन्तु निःशुल्क भोजनालय भी था । जो भी आवे जबतक रहना चाहे आचार्यके घर पड़ा रहे । आचार्य सत्कार-पूर्वक उसे खिलाते-पिलाते थे । इस उदार वृत्तिके कारण आचार्यपर कुछ कर्ज भी हो गया था ।

उनके यहाँ बाउल विश्वास नामका एक भृत्य था । आचार्यके चरणोंमें उसकी अनन्य श्रद्धा थी और वह उनके परिवारकी सदा तन-मनसे सेवा किया करता था । वह आचार्यके साथ-साथ पुरी भी जाया करता था । आचार्यको द्रव्यका संकोच होता है, इससे उसे मानसिक दुःख होता था, उनके ऊपर कुछ ऋण भी हो गया है, इसका उसे स्वयं ही सोच था । पुरीमें उसने प्रभुका इतना अधिक प्रभाव देखा । महाराज प्रतापरुद्रजी प्रभुको ईश्वरतुल्य मानते थे और गुरुभावसे उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करनेके लिये तत्पर रहते थे । विश्वासने सोचा—'महाराजसे ही आचार्यके ऋणपरिशोधके लिये क्यों न कहा जाय ? यदि महाराजके कानोंतक यह बात पहुँच गयी तो सदाके लिये इनके व्ययका सुदृढ़ प्रबन्ध हो जायगा ।' यह सोचकर

उसने आचार्यसे छिपकर स्वयं जाकर महाराज प्रतापरुद्रजीको एक प्रार्थनापत्र दिया। उसमें उसने आचार्यको साक्षात् ईश्वरका अवतार बताकर उनके ऋणपरिशोध और व्ययका स्थायी प्रबन्ध कर देनेकी प्रार्थना की।

महाराजने वह पत्र प्रभुके पास पहुँचा दिया। पत्रको पढ़ते ही प्रभु आश्चर्यचकित हो गये। उनके प्रभावका इस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है, यह सोचकर उन्हें विश्वासके ऊपर रोष आया। उसी समय गोविन्दको बुलाकर प्रभुने कठोरताके साथ आज्ञा दी—'गोविन्द! देखना आजसे बाउल विश्वास हमारे यहाँ न आने पावे। वह हमारे और आचार्यके नामको बदनाम करनेवाला है।' गोविन्द सिर नीचा किये हुए चुपचाप लौट गया। उसने नीचे जाकर ठहरे हुए भक्तोंसे कहा। भक्तोंके द्वारा आचार्यको इस बातका पता लगा। वे जल्दीसे प्रभुके पास दौड़े आये और उनके पैर पकड़कर गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! यह अपराध तो मेरा है। बाउलने जो भी कुछ किया है, मेरे ही लिये किया है। इसके लिये उसे दण्ड न देकर मुझे दण्ड दीजिये। अपराधके मूल कारण तो हमीं हैं।' महाप्रभु आचार्यकी प्रार्थनाकी उपेक्षा न कर सके। आचार्यके अवतारी होनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अवतारी होकर क्षुद्र पैसोंके लिये विषयी पुरुषोंसे प्रार्थना की जाय यह अवतारी पुरुषोंके लिये महान् कलङ्ककी बात है। आवश्यकता पड़नेपर याचना करना पाप नहीं है, किन्तु अवतारपनेकी आड़में द्रव्य माँगना महापाप है, बेचारा बावला बाउल क्या जाने, उस अशिक्षित नौकरको इतनी समझ कहाँ। उसने तो अपनी तरफसे अच्छा ही समझकर यह काम किया था। प्रभुने अज्ञानमें किये हुए उसके अपराधको क्षमा कर दिया और भविष्यमें फिर ऐसा कभी न करनेके लिये उसे समझा दिया।

गोपीनाथ पट्टनायक सूलीसे बचे

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०)

पाठकवृन्द राय रामानन्दजीके पिता राजा भवानन्दजीको तो भूले ही न होंगे । उनके राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक और वाणीनाथ आदि पाँच पुत्र थे, जिन्हें प्रभु पाँच पाण्डवोंकी उपमा दिया करते थे और भवानन्दजीको पाण्डु कहकर सम्मान और सत्कार किया करते थे । वाणीनाथ तो सदा प्रभुकी ही सेवामें रहते थे । राय रामानन्द पहले विद्यानगरके शासक थे, पीछेसे उस कामको छोड़कर वे सदा पुरीमें ही प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट निवास किया करते थे और महाप्रभुको निरन्तर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण कराते रहते । उनके छोटे भाई गोपीनाथ पट्टनायक 'माल जाठ्या दण्डपाट' नामक उड़ीसा राज्यान्तर्गत एक प्रान्तके शासक थे । ये बड़े शौकीन थे, इनका रहन-सहन, ठाट-बाट सब राजसी ढंगका ही था । धन पाकर जिस प्रकार प्रायः लोग विषयी बन जाते हैं, उसी प्रकारके ये विषयी बने हुए थे । विषयी लोगोंकी इच्छा सर्वभुक् अग्निके समान होती है, उसमें धनरूपी ईंधन कितना भी क्यों न डाल दिया जाय उसकी तृप्ति नहीं होती । तभी तो विषयी पुरुषोंको शास्त्रकारोंने अविश्वासी

---

* चाहे तो निष्काम भावसे, चाहे सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी इच्छासे अथवा मोक्षकी ही इच्छासे बुद्धिमान् पुरुषको सर्वदा तीव्र भक्तियोगसे उन परम पुरुष श्रीकृष्णकी [नामस्मरण, संकीर्तन और लीला-कथारूपी यशोद्वारा] आराधना करते रहना चाहिये ।

कहा है। विषयी लोगोंके वचनोंका कभी विश्वास न करना चाहिये। उनके पास कोई धरोहरकी चीज रखकर फिर उसे प्राप्त करनेकी आशा व्यर्थ है। विषय होता ही तब है जब हृदयमें अविवेक होता है और अविवेकमें अपने-पराये या हानि-लाभका ध्यान नहीं रहता। इसलिये विषयी पुरुष अपनेको तो आसक्तिके जालमें फँसाता ही है साथ ही अपने संसर्गियोंको भी सदा क्लेश पहुँचाता रहता है। विषयियोंका संसर्ग होनेसे किसे क्लेश नहीं हुआ है? इसीलिये नीतिकारोंने कहा है—

दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरम्परायाः
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र।
लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः॥

'इसमें विशेष कहने-सुननेकी बात ही क्या है? यह तो सनातनकी रीति चली आयी है कि, विषयी पुरुषोंसे संसर्ग रखनेसे अच्छे पुरुषोंको भी क्लेश होता ही है। देखो, उस विषयी रावणने तो जनकनन्दिनी सीताजी-का हरण किया और बन्धनमें पड़ा बेचारा समुद्र।' साथियों-के दुःख-सुखका उपभोग सभीको करना होता है। वह सम्बन्धी ही नहीं जो सुखमें सम्मिलित रहता है और दुःखमें दूर हो जाता है। किन्तु एक बात है, यदि खोटे पुरुषोंका सौभाग्यवश किसी महापुरुषसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो जाता है तो उसके इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। साधुपुरुष तो सदा विषयी पुरुषोंसे दूर ही रहते हैं, किन्तु विषयी किसी भी प्रकारसे उनके शरणापन्न हो जाय, तो फिर उसका बेड़ा पार ही समझना चाहिये। महापुरुषोंको यदि किसीके दुःखको देख-कर दुःख भी होता है तो फिर वह उस दुःखसे छूट ही जाता है, जब संसारी दुःख महापुरुषोंकी तनिक-सी इच्छासे छूट जाते हैं, तब शुद्ध हृदयसे और श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो उनकी शरणमें आता है उसका कल्याण तो होगा ही—

इसमें कहना ही क्या ? राजा भवानन्दजी शुद्ध हृदयसे प्रभुके भक्त थे। उनके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक महान् विषयी थे। पिताका महाप्रभुके साथ सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धसे उनका प्रभुके साथ थोड़ा-बहुत सम्बन्ध था। इस सम्बन्धीके सम्बन्धीके सम्बन्ध-संसर्गके ही कारण वे सूलीपर चढ़े हुए भी बच गये। महापुरुषोंकी महिमा ऐसी ही है।

गोपीनाथ एक प्रदेशके शासक थे। सम्पूर्ण प्रान्तकी आय उन्हींके पास आती थी। वे उसमेंसे अपना नियत वेतन रखकर शेष रुपयोंको राज-दरबारमें भेज देते थे। किन्तु विषयियोंमें इतना संयम कहाँ कि वे दूसरे-के द्रव्यकी परवा करें ? हम बता ही चुके हैं कि, अविवेकके कारण विषयी पुरुषोंको अपने परायेका ज्ञान नहीं रहता। गोपीनाथ पट्टनायक भी राजकोषमें भेजनेवाले द्रव्यको अपने ही खर्चमें व्यय कर देते। इस प्रकार उड़ीसाके महाराजके दो लाख रुपये उनकी ओर हो गये। महाराजने इनसे अपने रुपये माँगे, किन्तु इनके पास रुपये कहाँ ? उन्हें तो वेश्या और कलावतोंने अपना बना लिया। गोपीनाथने महाराजसे प्रार्थना की कि, 'मेरे पास नकद रुपये तो हैं नहीं। मेरे पास ये दस-बीस घोड़े हैं, कुछ और भी सामान है, इसे जितनेमें समझें, ले लें, शेष रुपये मैं धीरे-धीरे देता रहूँगा।' महाराजने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और घोड़ोंकी कीमत निश्चय करनेके निमित्त अपने एक लड़केको भेजा।

वह राजकुमार बड़ा बुद्धिमान् था, उसे घोड़ोंकी खूब परख थी, वह अपने दस-बीस नौकरोंके साथ घोड़ोंकी कीमत निश्चय करने वहाँ गया। राजकुमारका स्वभाव था कि वह ऊपरको सिर करके बार-बार इधर-उधर मुँह फिरा-फिराकर बातें किया करता था। राजपुत्र था, उसे अपने राजपाट और अधिकारका अभिमान था, इसलिये कोई उसके सामने बोलतातक नहीं था। उसने चारों ओर घोड़ोंको देख-भाल-कर मूल्य निश्चय करना आरम्भ किया। जिन्हें गोपीनाथ दो-चार हजारके

मूल्यको समझते थे, उनका उसने बहुत ही थोड़ा मूल्य बताया। महाराज गोपीनाथको भवानन्दजीके सम्बन्धसे पुत्रकी भाँति मानते थे, इसलिये ये बड़े ढीठ हो गये थे। राजपुत्रोंको वे कुछ समझते ही नहीं थे। जब राजपुत्रने दो-चार घोड़ोंका ही इतना कम मूल्य लगाया, तब गोपीनाथसे न रहा गया। उन्होंने कहा—'श्रीमन्! यह तो आप बहुत ही कम मूल्य लगा रहे हैं।'

राजपुत्रने कुछ रोषके साथ कहा—'तुम क्या चाहते हो, दो लाख रुपये इन घोड़ोंमें ही बेबाक कर दें? जितनेके होंगे उतने ही तो लगावेंगे।'

गोपीनाथने अपने रोषको रोकते हुए कहा—'श्रीमन्! घोड़े बहुत बढ़िया नस्लके हैं। इतना मूल्य तो इनके लिये बहुत ही कम है।'

इस बातसे कुछ कुपित होकर राजपुत्रने कहा—'दुनियाभरके रद्दी घोड़े इकट्ठे कर रखे हैं और चाहते हैं इन्हें ही देकर दो लाख रुपयोंसे बेबाक हो जायँ। यह नहीं होनेका। घोड़े जितनेके होंगे, उतनेके ही लगाये जायँगे।'

रायरामानन्दभ्राता मानी गोपीनाथ अपने इस अपमानको सहन नहीं कर सके। उन्होंने राजपुत्रकी उपेक्षा करते हुए धीरेसे व्यंगके स्वरमें कहा—'कम-से-कम मेरे ये घोड़े तुम्हारी तरह ऊपर मुँह उठाकर इधर-उधर तो नहीं देखते।' उनका भाव था कि तुम्हारी अपेक्षा घोड़ोंका मूल्य अधिक है।

आत्मसम्मानी राजपुत्र इस अपमानको सहन नहीं कर सका। वह क्रोधके कारण जलने लगा। उस समय तो उसने कुछ नहीं कहा। उसने सोचा कि यहाँ हम कुछ करें तो बात बढ़ जाय और न जाने महाराज उसका क्या अर्थ लगावें। शासनमें अभी हम स्वतन्त्र नहीं हैं, यही सोच-कर वह वहाँसे चुपचाप महाराजके पास चला गया। वहाँ जाकर उसने

गोपीनाथकी बहुत-सी शिकायतें करते हुए कहा—"पिताजी ! वह तो महा-विषयी है, एक भी पैसा देना नहीं चाहता । उलटे उसने मेरा घोर अपमान किया है । उसने मेरे लिये ऐसी बुरी बात कही है, जिसे आपके सामने कहनेमें मुझे लज्जा आती है । सब लोगोंके सामने वह मेरी ऐसी निन्दा कर जाय ? नौकर होकर उसका ऐसा भारी साहस ! यह सब आपकी ही ढीलका कारण है । उसे जबतक चांगपर न चढ़ाया जायगा तबतक रुपये वसूल नहीं होंगे, आप निश्चय समझिये ।"

महाराजने सोचा-—'हमें तो रुपये मिलने चाहिये । सचमुच जब-तक उसे भारी भय न दिखाया जायगा, तबतक वह रुपये नहीं देनेका । एक बार उसे चांगपर चढ़ानेकी आज्ञा दे दें । सम्भव है इस भयसे रुपये दे दे । नहीं तो पीछे उसे अपनी विशेष आज्ञासे छोड़ देंगे । भवानन्दके पुत्रको भला हम दो लाख रुपयोंके पीछे चांगपर थोड़े ही चढ़वा सकते हैं । अभी कह दें, इससे राजकुमारका क्रोध भी शान्त हो जायगा और रुपये भी सम्भवतया मिल ही जायँगे ।' यह सोचकर महाराजने कह दिया—"अच्छा भाई, वही काम करो, जिससे उससे रुपये मिलें । चढ़वा दो उसे चांगपर ।"

बस, फिर क्या था ! राजपुत्रने फौरन आज्ञा दी कि गोपीनाथको यहाँ बाँधकर लाया जाय । क्षणभरमें उसकी आज्ञा पालन की गयी । गोपीनाथ बाँधकर चांगके समीप खड़े किये गये । अब पाठकोंको चांगका भी परिचय करा दें कि यह चांग क्या वस्तु है । असलमें चांग एक प्रकारसे सूलीका ही नाम है । सूलीमें और चांगमें इतना ही अन्तर है कि सूली गुदामें होकर डाली जाती है और सिरमें होकर पार निकाल ली जाती है । इससे जल्दी प्राण नहीं निकलते—बहुत देरमें तड़प-तड़पकर प्राण निकलते हैं । चांग उससे कुछ सुखकर प्राणनाशक किया है । एक बड़ा-सा मञ्च होता है । उस मञ्चके नीचे भागमें

तीक्ष्ण धारवाला एक बहुत बड़ा खड्ग लगा रहता है। उस मञ्चपरसे अपराधीको इस ढंगसे फेंकते हैं कि जिससे उसपर गिरते ही उसके प्राणोंका अन्त हो जाय। इसीका नाम 'चांग चढ़ाना' है। बड़े-बड़े अपराधियोंको ही चांगपर चढ़ाया जाता है।

'गोपीनाथ पट्टनायक चांगपर चढ़ाये जायँगे'—इस बातका हल्ला चारों ओर फैल गया। सभी लोगोंको इस बातसे महान् आश्चर्य हुआ। महाराज जिन राजा भवानन्दको अपने पिताके समान मानते थे, उनके पुत्रको वे चांगपर चढ़ा देंगे, सचमुच इन राजाओंके चित्तकी बात समझी नहीं जाती, ये क्षणभरमें प्रसन्न हो सकते हैं और पलभरमें क्रुद्ध। इनका कोई अपना नहीं। ये सब कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बातें कहते हुए सैकड़ों पुरुष महाप्रभुके शरणापन्न हुए और सभी हाल सुनाकर प्रभुसे उनके अपराध क्षमा करा देनेकी प्रार्थना करने लगे।

प्रभुने कहा—'भाई! मैं कर ही क्या सकता हूँ? राजाकी आज्ञाको टाल ही कौन सकता है? ठीक ही है, विषयी लोगोंको ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये। जब वह राजद्रव्यको भी अपने विषय-भोगमें उड़ा देता है तो राजाको उससे क्या लाभ? दो लाख रुपये कुछ कम तो होते ही नहीं। जैसा उसने किया, उसका फल भोगे। मैं क्या करूँ?'

भवानन्दजीके सगे-सम्बन्धी और स्नेही प्रभुसे भाँति-भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगे। प्रभुने कहा—'भाई! मैं तो भिक्षुक हूँ, यदि मेरे पास दो लाख रुपये होते तो देकर उसे छुड़ा लाता, किन्तु मेरे पास तो दो कौड़ी भी नहीं। मैं उसे छुड़ाऊँ कैसे? तुम लोग जगन्नाथजीसे जाकर प्रार्थना करो, वे दीनानाथ हैं, सबकी प्रार्थनापर अवश्य ही ध्यान देंगे।'

इतनेमें ही बहुत-से पुरुष प्रभुके समीप और भागते हुए आये। उन्होंने संवाद दिया कि 'भवानन्द, वाणीनाथ आदि सभी परिवारके लोगोंको राजकर्मचारी बाँधकर लिये जा रहे हैं।'

सभी लोगोंको आश्चर्य हुआ। भवानन्दजीके बन्धनका समाचार सुनकर तो प्रभुके सभी विरक्त और अन्तरङ्ग भक्त तिलमिला उठे। स्वरूप-दामोदरजीने अधीरताके साथ कहा—'प्रभो! भवानन्द तो सपरिवार आपके चरणोंके सेवक हैं उनको इतना दुःख क्यों? आपके कृपापात्र होते हुए भी वे वृद्धावस्थामें इतना क्लेश सहें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। इससे आपकी भक्तवत्सलताकी निन्दा होगी।'

महाप्रभुने कुछ प्रेमयुक्त रोषके स्वरमें कहा—'स्वरूप! तुम इतने समझदार होकर भी ऐसी बच्चोंकी-सी बातें कर रहे हो? तुम्हारी इच्छा है कि मैं राजदरबारमें जाकर भवानन्दके लिये राजासे प्रार्थना करूँ कि वे इन्हें मुक्त कर दें? अच्छा, मान लो मैं जाऊँ भी और कहूँ भी और राजाने कह दिया कि आप ही दो लाख रुपये दे जाइये, तब मैं क्या उत्तर दूँगा? राजदरबारमें साधु-ब्राह्मणोंको तो कोई घास-फूँसकी तरह भी नहीं पूछता।'

स्वरूप गोस्वामीने कहा—'आपसे राजदरबारमें जानेके लिये कहता ही कौन है? आप तो अपनी इच्छामात्रसे ही विश्व-ब्रह्माण्डको उलट-पुलट कर सकते हैं। फिर भवानन्दको सपरिवार इस दुःखसे बचाना तो साधारण-सी बात है। आपको बचाना ही पड़ेगा, न बचावें तो आपकी भक्तवत्सलता ही झूठी हो जायगी, वह झूठी है नहीं। भवानन्द आपके भक्त हैं और आप भक्तवत्सल हैं, इस बातमें तो किसीको सन्देह ही नहीं।'

राजदरबारमें चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। सभीसे सुखोंपर गोपीनाथके चांगपर चढ़नेकी ही बात थी। सभी इस असम्भव और

अद्भुत घटनाके कारण भयभीत-से प्रतीत होते थे। समाचार पाकर महाराजके प्रधान मन्त्री चन्दनेश्वर महापात्र महाराजके समीप पहुँचे और अत्यन्त ही विस्मय प्रकट करते हुए कहने लगे—'श्रीमन्! यह आपने कैसी आज्ञा दे दी? भवानन्दके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक तो आपके भाई-के समान हैं। उन्हें आप प्राणदण्ड दिला रहे हैं, सो भी दो लाख रुपयोंके ऊपर! वे यदि देनेसे इन्कार करें तो भी कैसा करना उचित था? किन्तु वे तो देनेको तैयार हैं। उनके घोड़े आदि उचित मूल्यपर ले लिये जायँ, जो शेष रहेगा, उसे वे धीरे-धीरे देते रहेंगे।'

महाराजकी स्वयं इच्छा नहीं थी। महामन्त्रीकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छी बात है। मुझे इस बातका क्या पता? यदि वे रुपये देना चाहते हैं, तो उन्हें छोड़ दो। मुझे तो रुपयोंसे काम है उनके प्राण लेनेसे मुझे क्या लाभ?

महाराजकी ऐसी आज्ञा मिलते ही उन्होंने दरबारमें जाकर गोपी-नाथजीको सपरिवार मुक्त कर देनेकी आज्ञा लोगोंको सुना दी। इस आज्ञाको सुनते ही लोगोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। क्षणभरमें ही बहुत-से मनुष्य इस सुखद संवादको सुनानेके निमित्त प्रभुके पास पहुँचे और सभी एक स्वरसे कहने लगे—'प्रभुने गोपीनाथको चाँगसे उतरवा दिया।'

प्रभुने कहा—'यह सब उनके पिताकी भक्तिका ही फल है। जगन्नाथ-जीने ही उन्हें इस विपत्तिसे बचाया है।'

लोगोंने कहा—'भवानन्दजी तो आपको ही सर्वस्व समझते हैं और वे कह भी रहे हैं कि महाप्रभुकी ही कृपासे हम इस विपत्तिसे बच सके हैं।'

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'शूलके समीप खड़े हुए भवानन्दजीकी उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये ! अपने पुत्रको शूलपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष था न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे। दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे ! उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था।'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है। उनकी भगवत्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे। उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है। प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि शूलपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे !'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे। राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रों-को विदा किया। उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे। प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमें जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेंगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं। रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी हैं ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी ठहरे, बिना रुपया चुकाये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चाँगपर चढ़ावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'आपके समीप खड़े हुए भवानन्दजीका उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये । अपने पुत्रको चाँगपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष था न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे । दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे । उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था ।'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है । उनकी भगवद्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता ।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे । उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है । प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि चाँगपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे ।'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे । राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे ।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रोंको विदा किया । उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे । प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुःखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमें जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेंगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं । रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी हैं ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी लड़के, बिना रुपया चुकाये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चांगपर चढ़ावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रसंग छेड़ दिया कि महाप्रभु तो पुरी छोड़कर अब अलालनाथ जान चाहते हैं।

पैरोंको पकड़े हुए सम्भ्रमके साथ महाराजने कहा—'क्यों, क्यों ? उन्हें यहाँ क्या कष्ट है ? जो भी कोई कष्ट हो उसे दूर कीजिये। मैं आपका सेवक सब प्रकारसे स्वयं उनकी सेवा करनेको उपस्थित हूँ।'

मिश्रजीने कहा—'उन्हें गोपीनाथवाली घटनासे बड़ा कष्ट हुआ है। वे कहते हैं, विषयियोंके संसर्गमें रहना ठीक नहीं है।'

महाराजने कहा—'श्रीमहाराज ! मैंने तो उन्हें धमकानेके लिये ऐसा किया था। वैसे भवानन्दजीके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। इस छोटी-सी बातके पीछे प्रभु पुरीको क्यों परित्याग कर रहे हैं। दो लाख रुपयोंकी कौन-सी बात है ? मैं रुपयोंको छोड़ दूँगा। आप जैसे भी बने तैसे प्रभुको यहीं रखिये।'

मिश्रजीने कहा—'रुपये छोड़नेको वे नहीं कहते। रुपयोंकी बात सुनकर तो उन्हें और अधिक दुःख होगा। वैसे ही वे इस झंझटसे दूर रहना चाहते हैं। कहते हैं—'रोज-रोज यही झगड़ा चलता रहेगा। गोपीनाथ फिर ऐसा ही करेगा।'

महाराजने कहा—'आप उन्हें रुपयोंकी बात कहें ही नहीं। गोपीनाथ तो अपना ही आदमी है। अब झगड़ा क्यों होगा ? मैं उसे समझा दूँगा, आप महाप्रभुको जाने न दें। जैसे भी रख सकें अनुनय-विनय और प्रार्थना करके उन्हें यहीं रखें।'

महाराजके चले जानेपर दूसरे दिन मिश्रजीने सभी बातें आकर प्रभुसे कहीं। सब बातोंको सुनकर प्रभु कहने लगे—'यह आपने क्या किया ? यह तो दो लाख रुपये आपने मुझे ही दिलवा दिये। इस राज-प्रतिग्रहको लेकर मैं उल्टा पापके भागी बना।'

मिश्रजीने सभी बातें प्रभुको समझा दीं। महाराजके शील, स्वभाव, नम्रता और सद्गुणोंकी प्रशंसा की। प्रभु उनके भक्तिभावकी बातें सुनकर सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अलालनाथ जानेका विचार परित्याग कर दिया।

इधर महाराजने आकर गोपीनाथजीको बुलाया और उन्हें पुत्रकी भाँति समझाते हुए कहने लगे—'देखो, इस प्रकार व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। तुमने बिना पूछे इतने रुपये खर्च कर दिये इसलिये हमें क्रोध आ गया। जाओ, वे रुपये माफ किये। अब फिर ऐसा काम कभी भी न करना। यदि इतने वेतनसे तुम्हारा काम नहीं चलता है, तो हमसे कहना चाहिये था। अबतक तुमने यह बात हमसे कभी नहीं कही। आजसे हमने तुम्हारा वेतन भी दुगुना कर दिया।' इस प्रकार दो लाख रुपये माफ हो जानेपर और वेतन भी दुगुना हो जानेसे गोपीनाथजीको परम प्रसन्नता हुई। उसी समय वे आकर प्रभुके पैरोंमें पड़ गये और रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो! मुझे अब अपने चरणोंकी शरणमें लीजिये, अब मुझे इस विषय-जंजालसे छुड़ाइये।'

प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और फिर कभी ऐसा काम न करनेके लिये कहकर विदा किया।

जब महापुरुषोंकी तनिक-सी कृपा होनेपर गोपीनाथ सपरिवार सूलीसे बच गये, दो लाख रुपये माफ हो गये, वेतन दुगुना हो गया और पहलेसे भी अधिक राजाके प्रीतिभाजन बन गये, तब जो अनन्यभावसे महापुरुषोंके चरणोंकी सेवा करते हैं और उनके ऊपर जो महापुरुषोंकी कृपा होती है, उस कृपाके फलका तो कहना ही क्या! उस कृपासे तो फिर मनुष्यका इस संसारसे ही सम्बन्ध छूट जाता है। वह तो फिर सर्वतोभावेन प्रभुका ही हो जाता है। धन्य है ऐसी कृपालुताको!

श्रीशिवानन्द सेनकी सहनशीलता

न भवति भवति च न चिरं
भवति चिरं चेत् फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां
तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्॥*

(सु० र० भां० ४९ । १० । १०७)

पहले तो महापुरुषोंको क्रोध होता ही नहीं है। यदि किसी विशेष कारणवश क्रोध हो भी जाय तो वह स्थायी नहीं रहता, क्षणभरमें ही शान्त हो जाता है। यदि कोई ऐसा ही भारी कारण आ उपस्थित हुआ और महापुरुषोंका कोप कुछ कालतक बना रहा तो उसका परिणाम सुखकारी ही होता है। महापुरुषोंका बड़ा भारी कोप और नीच पुरुषोंका अत्यधिक स्नेह दोनों बराबर ही हैं। बल्कि कुपुरुषोंके प्रेमसे सत्पुरुषोंका

* सज्जनोंको क्रोध और नीच पुरुषोंको स्नेह पहले तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो देरतक नहीं ठहरता, यदि देरतक रहा भी तो फल उलटा ही होता है। इस प्रकार सत्पुरुषोंका कोप नीच पुरुषोंके स्नेहके ही समान है।

क्रोध लाख दर्जे अच्छा है, किन्तु सत्पुरुषोंके क्रोधको सहन करनेकी शक्ति सब किसीमें नहीं होती है। कोई परम भाग्यवान् क्षमाशील भगवद्भक्त ही महापुरुषोंके क्रोधको बिना मनमें विकार लाये सहन करनेमें समर्थ होते हैं और इसीलिये वे संसारमें सुयशके भागी बनते हैं। क्योंकि शास्त्रोंमें मनुष्यका भूषण सुन्दर रूप बताया गया है, सुन्दर रूप भी तभी शोभा पाता है, जब उसके साथ सद्गुण भी हों। सद्गुणोंका भूषण ज्ञान है और ज्ञानका भूषण क्षमा है।* चाहे मनुष्य कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, उसमें कितने ही सद्गुण क्यों न हों, उसका रूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसमें क्षमा नहीं है, यदि वह लोगोंके द्वारा कही हुई कड़वी बातोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन नहीं कर सकता तो उसका रूप, ज्ञान और सभी प्रकारके सद्गुण व्यर्थ ही हैं। क्षमावान् तो कोई शिवानन्दजी सेनके समान लाखों-करोड़ोंमें एक-आध ही मिलेंगे। महात्मा शिवानन्दजी तो क्षमाके अवतार ही थे—इसे पाठक नीचेकी घटनासे समझ सकेंगे।

पाठकोंको यह तो पता ही है कि, गौड़ीय भक्त रथ-यात्राको उपलक्ष्य बनाकर प्रतिवर्ष ज्येष्ठके अन्तमें अपने स्त्री-बच्चोंके सहित श्री-जगन्नाथपुरीमें आते थे और बरसातके चार मास बिताकर अन्तमें अपने-अपने घरोंको लौट जाते थे। उन सबके लानेका, मार्गमें सभी प्रकारके प्रबन्ध करनेका भार प्रभुने शिवानन्दजीको ही सौंप दिया था। वे भी प्रतिवर्ष अपने पाससे हजारों रुपये व्यय करके बड़ी सावधानीके साथ भक्तोंको अपने साथ लाते थे। सबसे अधिक कठिनाई घाटोंपर उतरनेकी थी। एक-एक, दो-दो रुपये उतराई लेनेपर भी घाटवाले यात्रियोंको ठीक

* नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

सामानपर नहीं उतारते थे। यद्यपि महाप्रभुके देशव्यापी प्रभावके कारण गौरभक्तोंको इतनी अधिक असुविधा नहीं होती थी फिर भी कोई-कोई खोटी बुद्धिवाला घटवारिया इनसे कुछ-न-कुछ अड़ंगा लगा ही देता था। ये बड़े सरल थे, सम्पूर्ण भक्तोंका भार इन्हींके ऊपर था, इसलिये घटवारिया, पहले-पहल इन्हें ही पकड़ते थे।

एक बार नीलाचल आते समय पुरीके पास ही किसी घटवारियाने शिवानन्द सेनजीको रोक रखा। वे भक्तोंके ठहरने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध न कर सके। क्योंकि घटवारियोंने उन्हें वहीं बैठा लिया था। इससे नित्यानन्दजीको उनके ऊपर बड़ा क्रोध आया। एक तो वे दिन-भरके भूखे थे, दूसरे रास्ता चलकर आये थे, तीसरे भक्तोंको निराश्रय भटकते देखनेसे उनका क्रोध उमड़ पड़ा। वे सेन महाशयको भली-बुरी बातें सुनाने लगे, उसी क्रोधके आवेशमें आकर उन्होंने यहाँतक कह डाला कि 'इस शिवानन्दके तीनों पुत्र मर जायँ, इसकी धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाय, इसने हमारे तथा भक्तोंके रहने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया।' नित्यानन्दजीके क्रोधमें दिये हुए ऐसे अभिशापको सुनकर सेन महाशयकी पत्नीको अत्यन्त ही दुःख हुआ, वे फूट-फूटकर रोने लगीं। जब बहुत रात्रि बीतनेपर घाटवालोंसे जैसे-तैसे पिण्ड छुड़ाकर शिवानन्द-जी अपने बाल-बच्चोंके समीप आये तब उनकी धर्मपत्नीने रोते-रोते कहा—'गुसाईंने क्रुद्ध होकर हमें ऐसा भयङ्कर शाप दे दिया है। हमने उनका ऐसा क्या बिगाड़ा था? अब भी वे क्रुद्ध हो रहे हैं, आप उनके पास न जायँ।'

शिवानन्दजीने दृढ़ताके साथ पत्नीकी बातकी अवहेलना करते हुए कहा—'पगली कहींकी! तू उन महापुरुषकी महिमा क्या जाने? मेरे तीनों पुत्र चाहे अभी मर जायँ और धन-सम्पत्तिकी तो मुझे कुछ परवा नहीं। यह तो सब गुसाईंकी ही है, वे चाहें तो आज ही सबको छीन लें। मैं

अभी उनके पास जाऊँगा और उनके चरण पकड़कर उन्हें शान्त करूँगा।' यह कहते हुए वे नित्यानन्दजीके समीप चले। उस समय भी नित्यानन्दजीका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। वृद्ध शिवानन्दजीको अपनी ओर आते देखकर उनकी पीठमें उठकर एक जोरसे लात मारी। सेन महाशयने कुछ भी नहीं कहा। उसी समय उनके ठहरने और खाने-पीनेकी समुचित व्यवस्था करके हाथ जोड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हुआ, जिन चरणोंकी रजके लिये इन्द्रादि देवता भी तरसते हैं वही चरण आपने मेरी पीठसे छुआये। मैं सचमुच कृतार्थ हो गया। गुसाईं! अज्ञानके कारण मेरा जो अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करें। मैं अपनी मूर्खतावश आपको क्रुद्ध करनेका कारण बना—इस अपराधके लिये मैं लज्जित हूँ। प्रभो! मुझे अपना सेवक समझकर मेरे समस्त अपराधोंको क्षमा करें और मुझपर प्रसन्न हों।'

शिवानन्दजीकी इतनी सहनशीलता, ऐसी क्षमा और ऐसी एकान्त निष्ठाको देखकर नित्यानन्दजीका हृदय भर आया। उन्होंने जल्दीसे उठकर शिवानन्दजीको गलेसे लगाया और उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—'शिवानन्द! तुम्हीं सचमुच प्रभुके परम कृपापात्र बननेयोग्य हो। जिसमें इतनी अधिक क्षमा है वह प्रभुका अवश्य ही अन्तरङ्ग भक्त बन सकता है।' सचमुच नित्यानन्दजीका यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ और प्रभुने सेन महाशयके ऊपर अपार कृपा प्रदर्शित की। प्रभुने अपने उच्छिष्ट महाप्रसादको शिवानन्दजीके सम्पूर्ण परिवारके लिये भिजवानेकी गोविन्दको स्वयं आज्ञा दी। इनकी ऐसी ही तपस्याके परिणामस्वरूप तो कवि कर्णपूर-जैसे परम प्रतिभावान् महाकवि और भक्त इनके यहाँ पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए।

नित्यानन्दजीका ऐसा बर्ताव शिवानन्दजी सेनके भागिनी-पुत्र श्रीकान्तको बहुत ही अरुचिकर प्रतीत हुआ। वह युवक था, शरीरसे

युवावस्थाका नूतन रक्त प्रवाहित हो रहा था, इस बातसे उसने अपने मामाका घोर अपमान समझा और इसकी शिकायत करनेके निमित्त वह सभी भक्तोंसे अलग होकर सबसे पहले प्रभुके समीप पहुँचा। बिना वस्त्र उतारे ही वह प्रभुको प्रणाम करने लगा। इसपर गोविन्दने कहा—'श्रीकान्त! तुम यह शिष्टाचारके विरुद्ध बर्ताव क्यों कर रहे हो? अंगरखेको उतारकर तब साष्टाङ्ग प्रणाम किया जाता है। पहले वस्त्रोंको उतार लो, रास्तेकी थकान मिटा लो, हाथ-मुँह धो लो, तब प्रभुके सम्मुख प्रणाम करने जाना।' किन्तु उसने गोविन्दकी बात नहीं सुनी। प्रभु भी समझ गये, अवश्य ही कुछ दालमें काला है, इसलिये उन्होंने गोविन्दसे कह दिया—'श्रीकान्तके लिये क्या शिष्टाचार और नियम, यह जो करता है ठीक ही है, इसे तुम मत रोको। इसी दशामें इसे बातें करने दो।' इतना कहकर प्रभु उससे भक्तोंके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें पूछने लगे। पुराने भक्तोंकी बात पूछकर प्रभुने नवीन भक्तोंके सम्बन्धमें पूछा कि अबके बालभक्तोंमेंसे कौन-कौन आया है? प्रभुके पीछे जो बच्चे उत्पन्न हुए थे, वे भी अबके अपनी-अपनी माताओंके साथ प्रभुके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे आ रहे थे। श्रीकान्तने सभी बच्चोंका परिचय देते हुए शिवानन्दजीके पुत्र परमानन्द-दासका भी परिचय दिया और उसकी प्रखर प्रतिभा तथा प्रभुदर्शनोंकी उत्कण्ठाकी भी प्रशंसा की। प्रभु उस बच्चेको देखनेके लिये लालायित-से प्रतीत होने लगे। इन सभी बातोंमें श्रीकान्त नित्यानन्दजीकी शिकायत करना भूल ही गये। इतनेमें ही सभी भक्त आ उपस्थित हुए। प्रभुने सदाकी भाँति उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन्हें रहनेके लिये यथायोग्य स्थान दिलाकर सबोंके प्रसादकी व्यवस्था करायी।

पुरीदास या कवि कर्णपूर

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥*

(भर्तृहरि० नीति० २४)

कविता एक भगवद्दत्त वस्तु है । जिसके हृदयमें कमनीय कविता करनेकी कला विद्यमान है उसके लिये फिर राज्यसुखकी क्या अपेक्षा ? इन्द्रासन उसके लिये तुच्छ है । कविता गणितकी तरह अभ्यास करनेसे नहीं आती, वह तो अलौकिक प्रतिभा है, किसी भाग्यवान् पुरुषको ही पूर्वजन्मोंके पुण्योंके फलस्वरूप प्राप्त हो सकती है । कवि क्या नहीं कर सकता ? जिसे चाहे अमर बना सकता है । जिसे चाहे पातालमें पहुँचा सकता है । भोज, विक्रम-जैसे अरबों-खरबों नहीं असंख्यों राजा हो गये, उनका कोई नाम क्यों नहीं जानता—इसलिये कि वे कालिदास-जैसे कविकुलचूडामणि महापुरुषके श्रद्धाभाजन नहीं बन सके । थोड़ी देरके लिये भगवान् रामकृष्णके अवतारीपनेकी बातको छोड़ दीजिये । सामान्य-दृष्टिसे वे केवल अपने प्रचण्ड दोर्दण्डबलके कारण बली नहीं बन सके ।

---

* उन परमपुण्यवान् रससिद्ध कवीश्वरोंकी जय हो, जिनके यशरूपी शरीरको अवश्य प्राप्त होनेवाले बुढ़ापे तथा मरणका भय नहीं है । अर्थात् कवियोंका यथार्थ शरीर उनका सुयश ही है । उनका सुयश सदा अमर बना रहता है । उसका नाश कभी नहीं होता ।

वाल्मीकि और व्यासने उन्हें बड़ी और वीर बनाया। तभी तो मैं कहता हूँ, कवि ईश्वर है, अचतुर्भुज विष्णु है, एक मुखवाला ब्रह्मा है और दो नेत्रवाला शिव है। कवि वन्द्य है, पूज्य है, आदरणीय और सम्माननीय है। कविके चरणोंकी वन्दना करना ईश्वरकी वन्दनाके समान है। कविरूपसे श्रीहरि ही उसके मुखसे भाषण करते हैं, जिसे सुनकर सुकृति और भाग्यवान् पुरुषोंका मनमयूर पंख फैलाकर नृत्य करने लगता है और नृत्य करते-करते अश्रुविमोचन करता है। उन अश्रुओंको बुद्धिरूपी मयूरी पान करती है और उन्हीं अश्रुओंसे आह्लादरूपी गर्भको धारण करती है, जिससे आनन्दरूपी पुत्रकी उत्पत्ति होती है। वे पिता धन्य हैं जिनके घरमें प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न होते हैं। ऐसा सौभाग्य श्रीशिवानन्द सेन-जैसे सुकृति, साधुसेवी और भगवद्भक्त पुरुषोंको ही प्राप्त हो सकता है जिनके कवि कर्णपूर-जैसे नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न कवि पुत्र उत्पन्न हुए। कविताका कोई निश्चय नहीं, वह कब परिस्फुट हो उठे। किसी-किसीमें तो जन्म-से ही यह शक्ति विद्यमान रहती है, जहाँ वे बोलने लगते हैं वहीं उनकी प्रतिभा फूटने लगती है। कवि कर्णपूर ऐसे ही स्वाभाविक कवि थे।

महाप्रभु जब संन्यास ग्रहण करके पुरीमें विराजमान थे, तब बहुत-से भक्तोंकी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंके साथ प्रभुदर्शनोंकी लालसासे पुरी आया करती थीं। एक बार जब शिवानन्द सेनजी अपनी पत्नीके साथ भक्तोंको लेकर पुरी पधारे तब श्रीमती सेन गर्भवती थीं। प्रभुने आज्ञा दी कि अबके जो पुत्र हो, उसका नाम पुरी गोस्वामीके नामपर रखना। प्रभुभक्त सेन महाशयने ऐसा ही किया, जब उनके पुत्र हुआ तो उसका नाम रखा परमानन्ददास। परमानन्ददास जब बड़े हुए तब

वे प्रभुदर्शनोंके लिये अपनी उत्कण्ठा प्रकट करने लगे। इनकी प्रभु-परायणा माताने बाल्यकालसे ही इन्हें गौर-चरित्र रटा दिये थे और सभी गौर-भक्तोंके नाम कण्ठस्थ करा दिये थे। इनके पिता प्रतिवर्ष हजारों रुपये अपने पाससे खर्च करके भक्तोंको पुरी ले जाया करते थे और मार्गमें उनकी सभी प्रकारकी व्यवस्था स्वयं करते थे। इनका घरभर श्रीचैतन्यचरणों-का सेवक था। इनके तीन पुत्र थे—बड़े चैतन्यदास, मँझले रामदास और सबसे छोटे थे परमानन्ददास, पुरीदास या कर्णपूर थे। परमानन्ददास बालकपनसे ही होनहार, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति और सरल हृदयके थे। इनके बहुत आग्रहपर वे इन्हें इनकी माताके सहित प्रभुके पास ले गये। वैसे तो प्रभुने इन्हें देख लिया था, किन्तु सेन इन्हें एकान्तमें प्रभुके पैरोंमें डालना चाहते थे। एक दिन जब महाप्रभु स्वरूप गोस्वामी आदि दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंके सहित एकान्तमें बैठे श्रीकृष्णकथा कह रहे थे तभी सेन महाशय अपने पुत्र परमानन्दपुरीको प्रभुके पास लेकर पहुँच गये। सेनने इन्हें प्रभुके पैरोंमें लिटा दिया, ये प्रभुके पैरोंमें लेटे-ही-लेटे उनके अँगूठेको चूसने लगे, मानो वे प्रभुपादपद्मोंकी मधुरिमाको पी रहे हों। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा—'इसका नाम क्या रखा है?'

धीरेसे सेन महाशयने कहा—'परमानन्ददास।'

प्रभुने कहा—'यह तो बड़ा लम्बा नाम हो गया, जिसीसे लिया भी कठिनतासे जायगा। इसलिये पुरीदास ठीक है।' यह कहकर वे बच्चेके सिरपर हाथ फेरते हुए प्रेमसे कहने लगे—'क्यों रे पुरीदास! ठीक है न तेरा नाम? तू पुरीदास ही है न?' बस उस दिनसे ये परमानन्ददास-की जगह पुरीदास हो गये।

एक बार सेन इन्हें फिर लेकर प्रभुके दर्शनोंको आये। तब प्रभुने इन्हें पुचकारकर कहा—'बेटा पुरीदास! अच्छा, कृष्ण-कृष्ण कहो।' किन्तु

पुरीदासने कुछ भी नहीं कहा। तब तो प्रभु बहुत आश्चर्यमें रह गये। पिता भी कह-कहकर हार गये। प्रभुने भी पुचकारकर, पुचकारकर कई बार कहा, किन्तु इन्होंने कृष्ण-कृष्ण ही न कहा। तब तो पिताको इस बातसे बड़ा दुःख हुआ कि हमारा यह पुत्र अभक्त होगा क्या, अभक्त पुत्रसे तो बिना पुत्रके ही रहना अच्छा। प्रभु भी आश्चर्य करने लगे कि हमने जगत्से श्रीकृष्ण नाम लिवाया, इस छोटे-से बालकसे श्रीकृष्ण नहीं कहला सके। इसपर स्वरूप गोस्वामीने कहा—'यह बालक बड़ा ही बुद्धिमान् है, इसने समझा है कि प्रभुने इसे मन्त्र प्रदान किया है। इसलिये अपने इष्ट मन्त्रको मन-ही-मन जप रहा है। मन्त्र किसीके सामने प्रकट थोड़े ही किया जाता है।' इस बातसे सभीको सन्तोष हुआ।

एक दिन जब इनकी अवस्था केवल सात ही वर्षकी थी तब सेन महाशय इन्हें प्रभुके समीप ले गये। प्रभुने पूछा—'कुछ पढ़ता भी है यह?'

सेनने धीरेसे कहा—'अभी क्या पढ़ने लायक है, ऐसे ही थोड़ा-बहुत कुछ खेल करता रहता है।'

प्रभुने कहा—'पुरीदास, अच्छा बेटा! कुछ सुनाओ तो सही।'

इतना सुनते ही सात वर्षका बालक स्वयं ही इस स्वरचित श्लोकको बोलने लगा—

> श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
> वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥*

* जो वृन्दावनकी रमणियोंके कानोंके नील कमल, आँखोंके अञ्जन, वक्षःस्थलकी इन्द्रनीलमणि एवं समस्त आभरणरूप हैं उन भगवान् हरिकी जय हो।

सात वर्षके बालकके मुखसे ऐसा भावपूर्ण श्लोक सुनकर सभी उपस्थित भक्तोंको परमाश्चर्य हुआ। इसे सभीने प्रभुकी पूर्णकृपाका फल ही समझा। तब प्रभुने कहा—'तूने सबसे पहले अपने श्लोकमें मजाङ्गनाओंके कानोंके आभूषणका वर्णन किया है, अतः तू कवि होगा और 'कर्णपूर'के नामसे तेरी ख्याति होगी।' तभीसे ये 'कवि कर्णपूर' हुए।

ये महाप्रभुके भावोंको भलीभाँति समझते थे। सच्चे सुकविसे भला किसके मनोभाव छिपे रह सकते हैं? ये सुकवि थे। इन्होंने अपनी अधिकांश कविता श्रीचैतन्यदेवके ही सम्बन्धमें की है। इनके बनाये हुए आनन्द-वृन्दावन (चम्पू), अलङ्कारकौस्तुभ (अलङ्कार), श्रीचैतन्य-चरित (काव्य), श्रीचैतन्यचन्द्रोदय (नाटक) और गौरगणोद्देशदीपिका प्रभृति ग्रन्थ मिलते हैं। इनका चैतन्य-चरित महाकाव्य बड़ा ही सुन्दर है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटककी भी खूब ख्याति है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' में इन्होंने श्रीकृष्णकी लीला और श्रीचैतन्यकी लीलाओंको समान मानते हुए यह बताया है कि गौर-भक्तोंमेंसे कौन-कौन भक्त श्रीकृष्णलीलाकी किस-किस सखीके अवतार थे। इसमें रूप, सनातन, रघुनाथदास आदि सभी गौर-भक्तोंको भिन्न-भिन्न सखियोंका अवतार बताया गया है। बड़ी विशाल कल्पना है, कविप्रतिभा ही तो ठहरी, जिस ओर लग गयी उसी ओर कमाल करके दिखा दिया। अपने पिताके सम्बन्धमें ये लिखते हैं—

> पुरा वृन्दावने वीरा दूती सर्वाश्च गोपिकाः।
> निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम॥

अर्थात् 'पहले श्रीकृष्णलीलामें वीरा नामकी दूती जो सभी गोपिकाओंको श्रीकृष्णके पास ले जाया करती थी। उसी वीरा दूतीके अवतार मेरे पिता (श्रीशिवानन्द सेन) हैं।' इसी प्रकार सभीके सम्बन्धमें

इन्होंने बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं। धन्य है ऐसे कविको और धन्य है उनके कमनीय काव्यामृतको जिसका पान करके आज भी गौर-भक्त उसी चैतन्यरूपी आनन्दसागरमें किलोलें करते हुए परमानन्दसुखका अनुभव करते हैं। अक्षरोंको जोड़नेवाले कवि तो बहुत हैं, किन्तु सत्-कवि वही है, जिसकी सभी लोग प्रशंसा करें। सभी जिसके काव्यामृतको पान करके लट्टू हो जायँ। एक कविने कविके सम्बन्धमें एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है—

> सन्त्येव सन्ति गृहे गृहेऽपि कवयो येषां वचश्चातुरी
> स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते स्वल्पैर्गुणैर्गौरवम्।
> दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदमतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
> पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा ॥

'ऐसे तो बोलने-चालने और बातें बनानेमें जो औरोंकी अपेक्षा कुछ व्युत्पन्नमतिके होते हैं ऐसे कवि कहलानेवाले महानुभाव घर-घर मौजूद हैं। अपने परिवारमें जो लड़की थोड़ी भी सुन्दरी और गुणवती होती है, उसीकी कुलवाले बहुत प्रशंसा करने लगते हैं। क्योंकि उसके लिये उतना बड़ा परिवार ही संसार है। ऐसे अपने ही घरमें कवि कहलानेवाले सज्जनोंकी गणना सुकवियोंमें थोड़े ही हो सकती है। सच्चा सुकवि तो वही है जिसकी कमनीय कविता अज्ञात कुलशीलवाले कलाकोविदोंके मनको भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर ले। उनकी वाणी सुनते ही उनके मुखोंसे वाह-वाह निकल पड़े। जैसे कलाकलापमें कुशल वाराङ्गनाके कुलगोत्रको न जाननेवाले पुरुष भी उसके गायन और कलासे मुग्ध होकर स्वयं ही उसकी ओर खिंचे जाते हैं।'

ऐसे सुकवियोंके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।

विवेचन तो कर लेते हैं, किन्तु महापुरुषोंके दोषोंके ऊपर ध्यान नहीं देते, वे अवगुणोंकी उपेक्षा करके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, हृदयसे उनके गुणोंके प्रति तो श्रद्धाके भाव रखते हैं, किन्तु जहाँ उन्हें कोई मर्यादाके विरुद्ध कार्य करते देखते हैं वहाँ उनकी आलोचना भी करते हैं और उन्हें उस दोषसे पृथक् रखनेके लिये प्रयत्नशील भी होते हैं। कुछ ऐसे भी भक्त या कुभक्त होते हैं जो महापुरुषके प्रभावको देखकर मन-ही-मन डाह करते हैं और उनके कामोंमें सदा छिद्रान्वेषण ही करते रहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्त तो महापुरुषोंसे यथाशक्ति लाभ उठाते हैं, किन्तु ये चौथे निन्दक महाशय अपना नाश करके महापुरुषका कल्याण करते हैं, अपनी नीचताके द्वारा महापुरुषोंकी सद्वृत्तियोंको उभाड़कर उन्हें लोगोंके सम्मुख रखते हैं। उनके बराबर परोपकारी संसारमें कौन हो सकता है, जो अपना सर्वस्व नाश करके लोककल्याणके निमित्त महापुरुषोंके द्वारा क्षमा और सहनशीलताका आदर्श उपस्थित कराते हैं।

महाप्रभुके दरबारमें पहले और दूसरे प्रकारके भक्तोंकी ही संख्या अधिक थी। प्रायः उनके सभी भक्त उन्हें 'सचल जगन्नाथ' 'संन्यास-वेषधारी पुरुषोत्तम' मानकर भगवद्बुद्धिसे उनकी सेवा-पूजा किया करते थे, किन्तु आलोचक और निन्दकोंका एकदम अभाव ही हो, सो बात नहीं थी। उनके बहुतसे आलोचक भी थे, किन्तु प्रभु उनकी बातें ही नहीं सुनते थे। कोई भूलमें आकर उनसे कह भी देता, तो वे उसे उस बातके सुननेसे एकदम रोक देते थे। यह तो बाहरके लोगोंकी बात रही, उनके अन्तरङ्ग भक्तों तथा साथियोंमें भी ऐसे थे, जो खरी कहनेके लिये प्रभुके सामने भी नहीं चूकते थे, किन्तु उनका भाव शुद्ध था। एक त्यागाभिमानी रामचन्द्रपुरी नामके उनके घोर निन्दक संन्यासी भी

गे, किन्तु प्रभुकी अलौकिक क्षमाके सामने उन्हें अन्तमें पुरीको ही छोड़कर जाना पड़ा। पहले दामोदर पण्डितकी आलोचनाकी एक घटना सुनिये।

महाप्रभु श्रीमन्दिरके समीप ही रहते थे। वहीं कहीं पासमें ही एक उड़िया ब्राह्मणीका घर था। वह ब्राह्मणी विधवा थी, उसका एक तेरह-चौदह वर्षका लड़का प्रभुके पास आया करता था। उस लड़केका सौन्दर्य अपूर्व ही था। उसके शरीरका रंग तप्त काञ्चनके समान बड़ा ही सुन्दर था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी सुडौल-सुन्दर थे। शरीरमें स्वाभाविक बाल्यचापल्य था। अपनी दोनों बड़ी-बड़ी सुहावनी आँखोंसे वह जिस पुरुषकी भी ओर देख लेता वही उसे प्यार करने लगता। वह प्रभुको प्रणाम करनेके लिये नित्यप्रति आता। प्रभु उससे अत्यधिक स्नेह करने लगे। उसे पासमें बिठाकर उससे प्रेमकी मीठी-मीठी बातें पूछते, कभी-कभी उसे प्रसाद भी दे देते। बच्चोंका हृदय तो बड़ा ही सरल और सरस होता है, उनसे जो भी प्रेमसे बोले वे उसीके हो जाते हैं। प्रभुके प्रेमके कारण उस बच्चेका ऐसा हाल हो गया कि उसे प्रभुके दर्शनोंके बिना चैन ही नहीं पड़ता था। दिनमें दो-दो, तीन-तीन बार वह प्रभुके पास आने लगा।

दामोदर पण्डित प्रभुके पास ही रहते थे। उन्हें इस अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त अल्पवयस्क बच्चेका प्रभुके पास इस प्रकारसे आना बहुत ही बुरा लगने लगा। वे एकान्तमें बच्चेको डाँट भी देते और उसे यहाँ आनेको निषेध भी कर देते, किन्तु हृदयका सच्चा प्रेम किसकी परवा करता है। अत्यन्त स्नेह मनुष्योंको ढीठ भी बना देता है। [illegible] मना करनेपर भी वह लड़का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रभुके पास चला जाता और वहीं उनके पास बैठा रहता। [illegible] भावमें उससे मीठी-मीठी बातें किया करते।

मनुष्यके स्वभावमें एक प्रकारकी क्रूरता होती है। जब हम किसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझते हैं और उसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझनेवाला कोई दूसरा पुरुष भी हो जाता है तो हम मन-ही-मन उससे डाह करने लगते हैं, फिर चाहे वह कितना भी सर्वगुणसम्पन्न क्यों न हो, हमें वह राक्षस-सा प्रतीत होता है। दामोदर पण्डितका भी यही हाल था। उन्हें उस विधवाके सुन्दर पुत्रकी सूरतसे घृणा थी, उसके नामसे चिढ़ थी, उसे देखते ही वे जल उठते। एक दिन उन्होंने उस लड़केको प्रभुके पास बैठा देखा। प्रभु उससे हँस-हँसकर बातें कर रहे थे। उस समय तो उन्होंने प्रभुसे कुछ नहीं कहा। जब वह लड़का उठकर चला गया तो उन्होंने कुछ प्रेमपूर्वक रोषके स्वरमें कहा—'प्रभो! आप दूसरोंको ही उपदेश देनेके लिये हैं, अपने लिये नहीं सोचते कि हमारे आचरणको देखकर कोई क्या समझेगा?'

प्रभुने सम्भ्रमके साथ कहा—'क्यों, क्यों, पण्डितजी! मैंने ऐसा कौन-सा पापकर्म कर डाला?'

उसी प्रकार रोषके साथ दामोदर पण्डितने कहा—'मुझे इस लड़केका आपके पास इस प्रकार निर्दोषभावसे आना अच्छा प्रतीत नहीं होता। आपको पता नहीं, लोग क्या मनमें सोचेंगे? संसारी लोग विचित्र होते हैं, अभी तो सब गुसाईं-गुसाईं कहते हैं। आपके इस आचरणसे सभी आपकी निन्दा करने लगेंगे और तब सब ईश्वरपना भूल जायँगे।'

प्रभुने सरलतापूर्वक कहा—'दामोदर! इस लड़केमें तो मुझे कोई भी दोष नहीं दीखता; बड़ा सरल, भोला-भाला और गौके बछड़ेके समान सीधा है।'

दामोदर पण्डितने कहा—'आपको पता नहीं, यह विधवाका पुत्र है, इसकी माता अभी युवती है, वैसे वह बड़ी तपस्विनी, सदाचारिणी तथा भगवत्परायणा है, फिर भी उसमें तीन दोष हैं। वह युवती है, अत्यधिक सुन्दरी है और विधवा तथा अपने घरमें अकेली ही है, आप अभी युवक हैं, अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त हैं। हम तो आपके मनोभावोंको समझते हैं, किन्तु लोक किसीको नहीं छोड़ता। वह जरा-सा छिद्र पाते ही निन्दा करने लगता है। लोगोंके मुखोंको हम थोड़े ही पकड़ लेंगे। इतने दिनकी जमी हुई प्रतिष्ठा सभी धूलमें मिल जायगी।'

दामोदर पण्डितकी बातोंसे प्रभुको हृदयमें सन्तोष हुआ कि इन्हें मेरी पवित्रताका इतना अधिक ध्यान रहता है, किन्तु उनके भोलेपन-पर उन्हें हँसी भी आयी। उस समय तो उन्होंने उनसे कुछ भी नहीं कहा। दूसरे दिन एकान्तमें बुलाकर कहने लगे—'दामोदर पण्डित! मैं समझता हूँ, तुम्हारा नवद्वीपमें ही रहना ठीक होगा, वहाँ तुम्हारे भयसे भक्तवृन्द मर्यादाके विरुद्ध आचरण न कर सकेंगे और तुम माताजीकी भी देख-रेख करते रहोगे। वहीं जाकर माताके समीप रहो और बीचमें मुझे देखनेके लिये यहाँ आ जाया करना। माताजीके चरणोंमें मेरा प्रणाम कहना और उन्हें समझा देना कि मैं सदा उनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको खानेके लिये नवद्वीपमें आता हूँ और प्रत्यक्षरीतिसे भगवान्‌के भोग लगाये हुए नैवेद्यको पाता हूँ।' इतना कहकर और जगन्नाथजीका प्रसाद देकर उन्हें नवद्वीपको विदा किया। ये नवद्वीपमें आकर शचीमाताके समीप रहने लगे, उनके भयसे नवद्वीपके भक्त कोई भी मर्यादाके विरुद्ध कार्य नहीं करते थे। इनकी आलोचना बड़ी ही खरी तथा तीव्र होती थी।

निन्दकके प्रति भी सम्मानके भाव

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥*

(सु० र० भां० ८७। १)

महात्मा दादूदयालजीने निन्दा करनेवालेको अपना पीर—गुरु बताकर उसकी खूब स्तुति की है। जिन पाठशालाओंमें परीक्षक होते हैं और वे सदा परीक्षा ही लेते रहते हैं, उसी प्रकार इन निन्दकोंको भी समझना चाहिये। परीक्षक उन्हीं छात्रोंकी परीक्षा करते हैं, जो विद्वान् बननेकी इच्छासे पाठशालामें पढ़नेके निमित्त प्रवेश करते हैं। जो बालक पढ़ता ही

---

* जिसके हाथमें क्षमारूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन लोग क्या बिगाड़ सकते हैं? जहाँ तिनके ही न हों, वहाँ यदि अग्नि गिर भी पड़े तो थोड़ी देरमें आप-से-आप ही शान्त हो जायगी।

नहीं, जो जानवरोंकी तरह पैदा होते ही खाने-पीनेकी चिन्तामें लग जाता है उसकी परीक्षक परीक्षा ही क्या करेगा ! वह तो निरक्षरताकी परीक्षामें पहले ही उत्तीर्ण हो चुका है। इसी प्रकार निन्दक लोग उन्हींकी निन्दा करते हैं जो इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति करना चाहते हैं, जो श्रेष्ठ बननेकी इच्छासे उन्नतिकी पाठशालामें प्रवेश करते हैं। जिसके जीवनमें कोई विशेषता ही नहीं, जो आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि धर्मोंमें अन्य प्राणियोंके समान व्यवहार करता है उसकी निन्दा-स्तुति दोनों समान हैं।

इहलौकिक उन्नतिमें निन्दा चाहे कुछ विघ्न भी कर सके, किन्तु पारलौकिक उन्नतिमें तो निन्दा सहायता ही करती है। निन्दाके दो भेद हैं—एक तो अपवाद, दूसरा प्रवाद। बुरे काम करनेपर जो निन्दा होती है उसे अपवाद कहते हैं। उससे बचनेकी सभीको जी-जानसे कोशिश करनी चाहिये, किन्तु कोई निन्दित कर्म किया तो है नहीं और वैसे ही लोग डाहसे, द्वेषसे या भ्रमसे निन्दा करने लगे हैं उसे प्रवाद कहते हैं। उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर होनेवाले व्यक्तिको प्रवादकी परवा न करनी चाहिये। प्रवाद ही उन्नतिके कण्टकाकीर्ण शिखरपर चढ़ानेके लिये सहारेकी लाठीका काम देता है। जो लोकरञ्जनके लिये प्रवादकी भी परवा करके उसकी यथार्थता लोगोंपर प्रकट करते हैं वे तो ईश्वर हैं। ईश्वरोंके तो वचनोंको ही सत्य मानना चाहिये, उनके आचरणोंकी सर्वत्र नकल न करनी चाहिये। धोबीके प्रवादपर निष्कलङ्क और पतिपरायणा सती-साध्वी जगन्माता सीताजीको श्रीरामचन्द्रजीने त्याग दिया। लोगोंके दोष लगानेपर भगवान् स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गये। ये कार्य उन्हीं अवतारी पुरुषोंको शोभा देते हैं। हम साधारण कोटिके जीव यदि इस प्रकारके प्रवादोंकी परवा करें तब तो हमलोगोंको पैर रखनेकी जगह भी न मिलेगी, क्योंकि जगत् प्रवादप्रिय है, इसे दूसरोंकी

उनकी निन्दा करनेमें मजा मिलता है। ऐसे ही एक निन्दक महाशय स्वामी रामचन्द्रपुरी प्रभुके समीप कुछ काल रहे थे, उनका वृत्तान्त सुनिये।

भगवान् माधवेन्द्रपुरी श्रीशङ्कराचार्यके दस नामी संन्यासियोंमें होनेपर भी भक्तिभावके उपासक थे। वे व्रजविहारीको ही सविशेष, निर्विशेष, साकार-निराकार तथा देशकाल और कार्यकारणसे पृथक् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समझते थे। वे निर्विशेष ब्रह्मकी निन्दा नहीं करते थे। उनका कथन था—'भाई! जिन्हें निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मके ध्यानसे आनन्द आता हो, वे भले ही ध्यान और अभ्यासके द्वारा उस निराकार ब्रह्मका ध्यान करें, किन्तु हमारा मन तो उस यमुनाके पुलिनोंपर गौओंके पीछे दौड़नेवाले किसी श्यामरंगके छोकरेने हर लिया है। हमारी आँखों-में तो वही गड़ गया है। उसके सिवा हमें दूसरा रूप भाता ही नहीं, विश्व हमें नीला-ही-नीला दीखता है।'*

वे रामचन्द्रपुरीजी भी उन्हीं भगवान् माधवेन्द्रपुरीके शिष्य थे। उनके शिष्योंमें परमानन्दपुरी, रङ्गपुरी, रामचन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी आदिके नाम मिलते हैं। इन सबमें ईश्वरपुरी ही अपने गुरुमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे और उनकी छोटी-से-छोटी सेवा अपने ही हाथोंसे करते थे, इसीलिये इनपर गुरु महाराजका प्रसाद सबसे अधिक हुआ और उसीके फलस्वरूप इन्हें गौराङ्ग महाप्रभुके [illegible]
विख्यात पद प्राप्त हो सका। ये रामचन्द्र[illegible]
तबीयतके और गुरुनिन्दक थे। जब मा[illegible]

समय आया और वे इस नश्वर शरीरको परित्याग करके गोलोकको गमन करने लगे तब श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते हुए रुदन करने लगे। रोते-रोते वे विकलताके साथ आँख भर-भरकर वेदनाके स्वरमें कहते—'हा नाथ! तुम्हें कब देख सकूँगा, मथुरामें जाकर आपके दर्शन न कर सका! हे मेरे मनमोहन! इस अधमको भी उबारो, मैं आपके विरहजन्य दुःखसे जला जा रहा हूँ!' उनकी इस पीड़ाको, विकलताको, कातरता और अधीरताको कोई सच्चा भगवत्-रसिक ही समझ सकता था। शुष्क तबीयतके, अक्खड़ प्रकृतिके ज्ञानाभ्यासी रामचन्द्रपुरी इस व्यथाका मर्म क्या जानें। उन्होंने वे ही सुनी हुई ज्ञानकी बातें छाँटनी शुरू कर दीं। उन शिक्षकमानी महात्माको यह भी ध्यान नहीं रहा कि जिन महापुरुषसे हमने दीक्षा ली है वे भी इन बातोंको जानते होंगे। वे गुरुजीको उपदेश करने लगे—'महाराज! आप ये कैसी मोहकी-सी भूली-भूली बातें कह रहे हैं, यह हृदय ही मथुरा है, आप ही ब्रह्म हैं, जगत् त्रिकालमें भी नहीं हुआ। आप इस शोकको दूर कीजिये और अपनेको ही ब्रह्म अनुभव कीजिये।' धीरेसे क्षीणस्वरमें महाराजने अपने प्रिय शिष्य ईश्वरपुरी महाराजको बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि रामचन्द्रको मेरे सामनेसे हटा दो। रामचन्द्रपुरी गुरुकी असन्तुष्टताको लिये हुए ही बाहर हुए। भगवान् माधवेन्द्रपुरीने श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए और अन्तिम समयमें इस श्लोकका उच्चारण करते हुए इस पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको त्याग दिया—

> अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
> हृदयं त्वदलोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥*
>
> (पद्यावल्याम्)

---

* हे दीनोंके ऊपर दया करनेवाले प्रभो! हे दयालो! हे मथुरानाथ! तुम्हारे मनोहर मुखकमलको कब देख सकूँगा? नाथ! यह हृदय तुम्हें न देखनेके

पुरी महाराजके निधनके अनन्तर ईश्वरपुरी महाराज तो गौड़ देशकी ओर चले गये और रामचन्द्रपुरी तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते-करते वे प्रभुकी कीर्ति और प्रशंसा सुनकर पुरीमें आये। आकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता परमानन्दजी पुरीके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर प्रभुसे मिलनेके लिये गये। प्रभु इनका परिचय पाकर उठकर खड़े हो गये और इनके चरणोंमें गुरुभावसे भक्तिके साथ प्रणाम किया। और भी प्रभुके साथी बहुत-से विरक्त भक्त वहाँ आ गये, सभीने गुरुभावसे पुरीको प्रणाम किया और बहुत देरतक भगवत्सम्बन्धी बातें होती रहीं। प्रभुके पास आये हुए अतिथियोंका भार इन्हीं सब विरक्त वैष्णवोंपर था। वे लोग भिक्षा करके लाते थे और उसीसे आगत अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करते थे। महाप्रभुकी भिक्षाका कोई नियम नहीं था, जो भी भक्त निमन्त्रण करके प्रसाद दे जाय उसे ही प्रभु पा लेते थे। सार्वभौम भट्टाचार्य आदि गृहस्थी भक्त प्रभुको अपने घरपर भी बुलाकर भिक्षा कराते थे और विरक्त भक्त भी बारी-बारीसे प्रभुको भिक्षा करा दिया करते थे। सामान्यतया प्रभुकी भिक्षामें चार आनेका खर्च था। चार आनेके प्रसादमें प्रभुकी भिक्षाका काम चल जाता। और सब तो इधर-उधरसे भिक्षा कर लाते थे। केवल श्रीईश्वरपुरीके शिष्य काशीश्वर और सेवक गोविन्द ये दो प्रभुके ही समीप भिक्षा पाते थे। इन चार आनोंके प्रसादमें तीनोंका ही काम चल जाता था। इसके अतिरिक्त प्रेमके कारण कोई और भी अधिक मिष्टान्न आदि पदार्थ ले आवे तो प्रभु उसकी भी अवहेलना नहीं करते थे। प्रसादमें उनकी भेद-बुद्धि नहीं थी। भक्त प्रेमपूर्वक प्रभुको आग्रह कर-करके खूब खिलाते थे

कातर होकर तुम्हारे लिये छटपटा रहा है, चारों ओर घूम रहा है, प्राणवल्लभ! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

और प्रभु भी उनके आग्रहको मानकर इच्छा न होनेपर भी थोड़ा-बहुत खा लेते थे।

उस दिन नवागत रामचन्द्रपुरीका निमन्त्रण जगदानन्दजीने किया। मन्दिरसे प्रसाद लाकर उन्होंने प्रेमपूर्वक उन्हें भिक्षा करायी। वे तो प्रेमी थे, प्रभुको जिस प्रकार प्रेमपूर्वक आग्रहके साथ भिक्षा कराते थे, उसी प्रकार आग्रह कर-करके उन्हें भी खूब खिलाया। वे महाशय आग्रह करनेसे खा तो बहुत गये, किन्तु जाते ही उन्होंने जगदानन्द पण्डितकी निन्दा करनी आरम्भ कर दी। कहने लगे—"सचमुच हमने जो सुना था कि श्रीकृष्णचैतन्यके सभी भक्त पेटू हैं, यह बात ठीक ही निकली। भला, साधु होकर जो इतना अन्न खायगा, वह भजन-पूजन कैसे कर सकेगा?' इस प्रकारकी बहुत-सी बातें वे लोगोंसे कहते। स्वयं त्यागके अभिमानके कारण भिक्षा करके खाते। जहाँ-तहाँ एकान्त स्थानों और पेड़ोंके नीचे पड़े रहते और महाप्रभुके आचरणकी लोगोंमें खूब निन्दा करते। वे अपने स्वभावसे विवश थे, प्रभुका इतना भारी प्रभाव उन्हें अखरता था। उनमें ही क्या विशेषता है कि लोग उन्हींकी पूजा करते हैं। वे संन्यासी होकर भी गृहस्थियोंके घरमें रहते हैं। हम विरक्तोंकी भाँति एकान्त स्थानोंमें निवास करते हैं। वे रोज बढ़िया-बढ़िया पदार्थ संन्यासीधर्मके विरुद्ध अनेकों बार खाते हैं। हम यति-धर्मका पालन करते हुए रूखी-सूखी भिक्षापर ही निर्वाह करते हैं। वे सदा लोगोंसे घिरे रहते हैं। हमलोगोंसे एकदम पृथक् रहते हैं। फिर भी मूर्ख लोग हमारा सत्कार न करके उन्हींका सबसे अधिक सत्कार करते हैं। मालूम होता है लोग यतिधर्मसे अनभिज्ञ हैं, हम उन्हें समझाकर उनके भ्रमको दूर कर देंगे। यह सोचकर वे प्रभुके आचरणोंकी निन्दा करने लगे और यतिधर्मके व्याजसे अपनी प्रशंसा करने लगे।

भक्तोंने आकर यह बात प्रभुसे कही। प्रभु तो किसीके सम्बन्धका निन्दावाक्य सुनना ही नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने इस बातकी एक-दम उपेक्षा ही कर दी। रामचन्द्रजी अपने स्वभावानुसार प्रभुकी तथा उनके भक्तोंकी सदा कड़ी आलोचना करते रहते थे।

एक दिन वे प्रातःकाल प्रभुके पास पहुँचे। उस समय प्रभु समुद्र-स्नान करके बैठे हुए भगवन्नामोंका जप कर रहे थे। एक ओर सुन्दर कमण्डलु रखा था, दूसरी ओर श्रीमद्भागवतकी पुस्तक रखी थी। रात्रिकी प्रसादी मालाएँ भी वहाँ टँग रही थीं। पुरीको देखते ही प्रभुने उन्हें उठकर सादर प्रणाम किया और बैठनेके लिये आसन दिया। जिस प्रकार मीठा और विष्ठा पास-पास रहनेपर मक्खीकी दृष्टि विष्ठापर ही जाती है और वह मीठेको छोड़कर विष्ठापर ही बैठती है उसी प्रकार छिद्रान्वेषण-स्वभाववाले रामचन्द्रपुरीकी दृष्टि सामने दीवालपर चढ़ती हुई चींटियोंके ऊपर पड़ी। दीवालपर चींटियोंका चढ़ना कोई नयी बात नहीं थी, किन्तु वे तो छिद्रान्वेषणके ही निमित्त आये थे। इसलिये बोले—'क्यों जी! हम समझते हैं, तुम मीठा बहुत खाते हो, तभी तो तुम्हारे यहाँ इतनी चींटी हैं।'

प्रभु इसे अस्वीकार न कर सके। उन्होंने सरलताके साथ कहा—'भगवन्! भगवान्के प्रसादमें मैं मीठे-खट्टेका विचार नहीं करता।'

पुरीने अपना गुरुत्व जताते हुए कहा—'यह बात ठीक नहीं है, ऐसा आचरण यतिधर्मके विरुद्ध है। संन्यासीको स्वादिष्ट पदार्थ तो कभी खाने ही न चाहिये। भिक्षामें जो भी कुछ रूखा-सूखा मिल गया उसीसे उदरपूर्ति कर लेनी चाहिये। साधुको स्वादसे क्या प्रयोजन? तुम्हारे सभी भक्त खूब खाते हैं और तान दुपट्टा सोते हैं, भला इतना

अधिक खानेपर भजन कैसे हो सकता है ! सुना है, तुम भी बहुत खाते हो ।'

प्रभुने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'अब आप जैसा उपदेश करेंगे, वैसा ही करूँगा ।'

पुरीने कुछ गर्वके स्वरमें कहा—'हम क्या उपदेश करेंगे, तुम स्वयं समझदार हो । संन्यासी होकर संन्यासियोंका-सा आचरण करो, इस दूकानदारीको छोड़ो । लोगोंका मनोरञ्जन करनेसे क्या लाभ ? संन्यासीका जीवन तो घोर तितिक्षामय होना चाहिये ।' यह सुनकर प्रभु चुप हो गये और रामचन्द्रपुरी उठकर चले गये । तब प्रभुने गोविन्दको बुलाकर कहा—'गोविन्द ! आजसे मेरे लिये एक 'चौठि' भात और पाँच पीठाके व्यञ्जन, बस यही भिक्षामें लिया करना । इससे अधिक मेरे लिये किसीसे भिक्षा ली तो मैं बहुत असन्तुष्ट होऊँगा ।' जगन्नाथजी-का प्रसाद सदा मिट्टीकी हाँड़ियोंमें बनता है । एक हाँड़ीके चौथाई भागको 'एक चौठि' या एक चौथाई बोलते हैं । मालूम पड़ता है, उन दिनों मोल लेनेपर एक हाँड़ी भात दो-तीन पैसेमें मिलता होगा और एक-दो पैसेमें दूसरे व्यञ्जन । चार पैसेके प्रसादमें चार-पाँच आदमियोंकी भलीभाँति तृप्ति हो जाती होगी । अब प्रभुने केवल एक पैसेका ही भोग लेना स्वीकार किया । काशीश्वर और गोविन्दसे कह दिया—'तुमलोग अन्यत्र जाकर भिक्षा ले आया करो । गोविन्द उदास मनसे लौट गया । वह प्रभुकी इस कठोर आज्ञाका कुछ भी अभिप्राय न समझ सका । गोविन्द प्रभुका अत्यन्त ही अन्तरङ्ग भक्त था, उसका प्रभुके प्रति मातृवत् स्नेह था । प्रभुकी सेवामें ही उसे परमानन्द सुखका अनुभव होता था । उसे पता था कि प्रभु जिस बातका निश्चय कर लेते हैं, फिर उसे सहसा जल्दी नहीं छोड़ते । इसलिये उसने प्रभुके आज्ञापालनमें

आनाकानी नहीं की। उस दिन एक ब्राह्मणने प्रभुका निमन्त्रण किया था। वह बहुत-सा सामान प्रभुकी भिक्षाके निमित्त लाया था, किन्तु उसने उतना ही प्रसाद उसमेंसे लिया जितनेकी प्रभुने आज्ञा दी थी, शेष सभी लौटा दिया। इस बातसे उस ब्राह्मणको अपार दुःख हुआ, किन्तु प्रभुने अधिक लेनेकी स्वीकृति दी नहीं दी।

भक्तोंको इस बातका पता चला। सभी रामचन्द्रपुरीको खोटी-खरी सुनाने लगे। सभी प्रभुके समीप आ-आकर प्रार्थना करने लगे, किन्तु प्रभुने इससे अधिक भिक्षा स्वीकार ही नहीं की। यह बात रामचन्द्रपुरीको भी मालूम हुई। वह भी प्रभुके भावोंको ताड़नेके निमित्त प्रभुके समीप आये। प्रभुने पूर्ववत् ही उठकर उन्हें प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और बैठनेके लिये अपनेसे ऊँचा आसन दिया। आसनपर बैठते हुए गुरुत्वके भावसे पुरी कहने लगे—'हमने सुना है तुमने हमारे कहनेसे अपना आहार घटा दिया है, यह बात ठीक नहीं है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह था कि आहार-विहार युक्त करना चाहिये। इतना अधिक भी न करना चाहिये कि भजनमें बैठा ही न जाय और इतना कम भी न करना चाहिये कि शरीर कृश हो जाय। युक्तिपूर्वक भोजन करना चाहिये। शरीर सुखानेसे क्या लाभ?'

प्रभुने धीरेसे नम्रताके साथ कहा—'मैं आपका बच्चा हूँ, आप गुरुजन जैसी आज्ञा करेंगे, वैसा ही मैं करूँगा।'

उसी स्वरमें पुरी कहने लगे—'हाँ, यह तो ठीक है, किन्तु भोजन पेट भरके किया करो।' इतना कहकर पुरी महाराज चले गये। किन्तु प्रभुने अपना आहार उतना ही रखा, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। इससे भक्तोंको तो बड़ा ही दुःख हुआ। वे सब परमानन्दजी

पुरीके पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वे प्रभुको समझा दें। भक्तोंके कहनेपर परमानन्दजी प्रभुके पास गये और अत्यन्त ही क्षीण देखकर कहने लगे—'आप इतने कृश क्यों हो गये हैं, सुना है, आपने अपना आहार भी अति सूक्ष्म कर दिया है, इसका कारण क्या है ?'

प्रभुने सरलतापूर्वक उत्तर दिया—'श्रीपाद रामचन्द्रजी पुरीने मुझे ऐसी ही आज्ञा दी थी कि संन्यासीको कम आहार करना चाहिये।'

कुछ रोषके स्वरमें परमानन्दजीने कहा—'आपने भी किसकी बात मानी ? उसे आप नहीं जानते, उसका तो स्वभाव ही दूसरोंकी निन्दा करना है, ऐसे निन्दकोंके उपदेशपर चलने लगें तो सभी रसातलमें पहुँच जायँ। आपकी तो बात ही क्या है, वह तो महामहिम श्रीगुरु-चरणोंकी निन्दा किये बिना नहीं रहता था। उसके कहनेसे आप शरीरको सुखा रहे हैं, इससे हमें बड़ा कष्ट होता है। आप हमारे आग्रहसे भरपेट भोजन कीजिये।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'आप भी गुरु हैं, वे भी मान्य हैं। आपकी आज्ञाको भी टाल नहीं सकता, आजसे कुछ अधिक खाया करूँगा।' प्रभुके ऐसा विश्वास दिलानेपर पुरी उठकर अपने आसनपर चले गये। उस दिनसे प्रभुने आहार कुछ बढ़ाया तो अवश्य, किन्तु पहलेके बराबर उनका आहार फिर कभी हुआ ही नहीं। सभी भक्त मन-ही-मन रामचन्द्रपुरीको कोसने लगे और भगवान्से प्रार्थना करने लगे कि जल्दी ही इनके खोटे पैर पुरीकी पावनभूमिको परित्याग करके कहीं अन्यत्र चले जायँ। भक्तोंकी प्रार्थना भगवान्ने सुन ली और थोड़े दिनों बाद रामचन्द्रपुरी महाशय अपने-आप ही पुरी छोड़कर किसी अन्य स्थानके लिये चले गये।

महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥*

जिनकी भाग्यवती जिह्वापर श्रीहरिके मधुर नाम सदा विराजमान रहते हैं, नामसंकीर्तनके द्वारा जिनके रोम-रोममें राम रम गया है, जिन्होंने कृष्णकीर्तनके द्वारा इस कलुषित कलेवरको चिन्मय बना लिया है, वे नामप्रेमी संत समय-समयपर संसारको शिक्षा देनेके निमित्त इस अवनिपर अवतरित होकर लोगोंके सम्मुख नाममाहात्म्य प्रकट करते हैं। वे नित्य-सिद्ध और अनुग्रहसृष्टिके जीव होते हैं। न उनका जन्म है और न उनकी मृत्यु। उनकी कोई जाति नहीं, कुटुम्ब-परिवार नहीं। वे वर्णाश्रम-से परे मत-मतान्तरोंसे रहित और यावत् भौतिक पदार्थोंसे संसर्ग रखनेवाले सम्बन्ध हैं उन सभीसे पृथक् ही रहते हैं। अपने अलौकिक आचरणके द्वारा संसारको साधनपथकी ओर अग्रसर करनेके निमित्त ही उनका अवतरण होता है। वे ऊपरसे इसी कार्यके निमित्त उतरते हैं और कार्य समाप्त

---

* मैं खूब सोच-विचारकर निश्चितरूपसे कहता हूँ, मेरे वचनोंको मिथ्या मत समझना। मैं कहता हूँ और दावेके साथ कहता हूँ, जो लोग श्रीहरिका भजन करते हैं वे कठिनतासे पार होनेवाले इस असार संसाररूपी समुद्रको बात-की-बातमें तर जाते हैं।

होनेपर ऊपर ही चले जाते हैं। हम संसारी लोगोंकी दृष्टिमें उनके जन्म-मरण आदि सभी कार्य होतेसे दीखते हैं। वे जन्मते भी हैं, बढ़ते भी हैं, रहते भी हैं, खाते-पीते तथा उठते-बैठतेसे भी दीखते हैं, वृद्ध भी होते हैं और इस पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागकर मृत्युको भी प्राप्त करते हैं। हम करें भी तो क्या करें, हमारी बुद्धि ही ऐसी बनी है। वह इन धर्मोंसे रहित व्यक्तिका अनुमान ही नहीं कर सकती। गोल छिद्रमें तो गोल ही वस्तु आवेगी, यदि तुम उसमें उसी नापकी चौकोनी वस्तु डालोगे तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ होगा। छिद्रकी बनावट देखकर ही उसमें वस्तु डालनी चाहिये। इसीलिये कभी न मरनेवाले अमर महात्माओंके भी शरीरत्यागका वर्णन किया जाता है। वास्तवमें तो श्रीहरिदासजी जैसे तब थे वैसे ही अब भी हैं, नामामृतने उन्हें सदाके लिये जरा, व्याधि तथा मरणसे रहित बनाकर अमर कर दिया। जो अमर हो गया उसकी मृत्यु कैसी? उसके लिये शोक कैसा! उनकी मृत्यु भी एक प्रकारकी लीला है और श्रीचैतन्य उस लीलाके सुचतुर सूत्रधार हैं। वे दुःखसे रहित होकर भी दुःख करतेसे दीखते हैं, ममता-मोहसे पृथक् होनेपर भी वे उसमें सनेसे मालूम पड़ते हैं। शोक, उद्वेग और सन्तापसे अलग होनेपर भी वे शोकयुक्त, उद्वेगयुक्त और सन्तापयुक्त-से दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी माया वे ही जानें। हम तो दर्शक हैं, जैसा देख रहे हैं, वैसा ही बतावेंगे, जैसा सुनेंगे, वैसा ही कहेंगे। लीला है, बनावट है, छद्म है, नाटक है या सत्य है, इसे वे ही जानें।

दोपहर हो चुका था, प्रभुका सेवक गोविन्द नित्यकी भाँति महाप्रसाद लेकर हरिदासके पास पहुँचा। रोज वह हरिदासजीको आसनपर बैठे हुए नाम-जप करते पाता था। उस दिन उसने देखा हरिदासजी सामनेके तख्तपर आँख बंद किये हुए लेट रहे हैं। उनके श्रीमुखसे आप-ही-आप निकल रहा था—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गोविन्दने धीरेसे कहा—'हरिदास! उठो, आज कैसे सुस्तीमें पड़े हो!'

कुछ सम्भ्रमके साथ चौंककर आँखें खोलते हुए भर्राई आवाजमें हरिदासजीने पूछा—'कौन है?'

गोविन्दने कहा—'कोई नहीं, मैं हूँ गोविन्द। क्यों क्या हाल है? पड़े कैसे हो? प्रसाद लाया हूँ, लो प्रसाद पा लो।'

कुछ क्षीणस्वरमें हरिदासजीने कहा—'प्रसाद लाये हो? प्रसाद कैसे पाऊँ?'

गोविन्दने कुछ ममताके स्वरमें कहा—'क्यों, क्यों, बात क्या है, बताओ तो सही। तबीअत तो अच्छी है न?'

हरिदासजीने फिर उसी प्रकार विषण्णतायुक्त वाणीमें कहा—'हाँ, तबीअत अच्छी है, किन्तु आज नामजपकी संख्या पूरी नहीं हुई। बिना संख्या पूरी किये प्रसाद कैसे पाऊँ? तुम ले आये हो तो अब प्रसादका अपमान करते भी नहीं बनता।' यह कहकर उन्होंने प्रसादको प्रणाम किया और उसमेंसे एक कण लेकर मुखमें डाल लिया। गोविन्द चला गया, उसने सब हाल महाप्रभुसे जाकर कहा।

दूसरे दिन सदाकी भाँति समुद्रस्नान करके प्रभु हरिदासजीके आश्रममें गये। उस समय भी हरिदासजी जमीनपर पड़े मपकी ले रहे थे। पासमें ही मिट्टीके करवेमें जल भरा रखा था। आज आश्रम सदाकी भाँति झाड़ा-बुहारा नहीं गया था। इधर-उधर कूड़ा पड़ा था, मक्खियाँ भिनक रही थीं। प्रभुने आवाज देकर पूछा—'हरिदासजी! तबीअत कैसी है? शरीर तो स्वस्थ है न?'

हरिदासजीने चौंककर प्रभुको प्रणाम किया और क्षीणस्वरमें कहा—'शरीर तो स्वस्थ है। मन स्वस्थ नहीं है।'

प्रभुने पूछा—'क्यों, मनको क्या क्लेश है, किस बातकी चिन्ता है ?'

उसी प्रकार दीनताके स्वरमें हरिदासजीने कहा—'यही चिन्ता है प्रभो ! कि नामसंख्या अब पूरी नहीं होती।'

प्रभुने ममताके स्वरमें कुछ बातपर जोर देते हुए कहा—'देखो, अब तुम इतने वृद्ध हो गये हो। बहुत हठ ठीक नहीं होती। नामकी संख्या कुछ कम कर दो। तुम्हारे लिये क्या संख्या और क्या जप ? तुम तो नित्यसिद्ध पुरुष हो, तुम्हारे सभी कार्य केवल लोकशिक्षणके निमित्त होते हैं।'

हरिदासजीने कहा—'प्रभो ! अब उतना जप होता ही नहीं, स्वतः ही कम हो गया है। हाँ, मुझे आपके श्रीचरणोंमें एक निवेदन करना था।'

प्रभु पासमें ही एक आसन खींचकर बैठ गये और प्यारसे कहने लगे—'कहो, क्या कहना चाहते हो ?'

अत्यन्त ही दीनताके साथ हरिदासजीने कहा—'आपके लक्षणोंसे मुझे प्रतीत हो गया है कि आप शीघ्र ही लीलासंवरण करना चाहते हैं। प्रभो ! मेरी श्रीचरणोंमें यही अन्तिम प्रार्थना है कि यह दुःखप्रद दृश्य मुझे अपनी आँखोंसे देखना न पड़े। प्रभो ! मेरा हृदय फट जायगा। मैं इस प्रकार हृदय फटकर मृत्यु नहीं चाहता। मेरी तो मनोकामना यही है कि नेत्रोंके सामने आपकी मनमोहिनी मूरत हो, हृदयमें आपके सुन्दर सुवर्णवर्णकी सलोनी सूरत हो, जिह्वापर मधुरातिमधुर श्रीकृष्णचैतन्य यह त्रैलोक्यपावन नाम हो और आपके चारु चरित्रोंका चिन्तन करते-करते मैं इस नश्वर शरीरको त्याग करूँ। यही मेरी

साध है, यही मेरी उत्कट अभिलाषा है। आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। इस भिक्षाको तो आप मुझे अवश्य ही दे दें।'

प्रभुने डबडबायी आँखोंसे कहा—'ठाकुर हरिदास! मालूम पड़ता है, अब तुम लीलासंवरण करना चाहते हो। देखो, यह बात ठीक नहीं। पुरीमें मेरा और कौन है? तुम्हारी ही बदौलतसे तो यहाँ पड़ा हुआ हूँ। हम-तुम साथ ही रहे, साथ ही सङ्कीर्तन किया, अब तुम मुझे अकेला छोड़कर जाओगे, यह ठीक नहीं है।'

धीरे-धीरे पिराककर प्रभुके पैरोंमें मस्तक रगड़ते हुए हरिदास कहने लगे—'प्रभो! ऐसी बात फिर कभी अपने श्रीमुखसे न निकालें। मेरा जन्म म्लेच्छकुलमें हुआ। जन्मका अनाथ, अननद और अनाश्रित, संसारसे तिरस्कृत और हीन कर्मोंके कारण अत्यन्त ही अधम, तिसपर भी आपने मुझे अपनाया; नरकसे लेकर स्वर्गमें बिठाया। बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्राह्मणोंसे सम्मान कराया, त्रिलोकपावन पुरुषोत्तमक्षेत्रका देवदुर्लभ वास प्रदान किया। प्रभो! इस दीनहीन कंगालको रङ्कसे चक्रवर्ती बना दिया, यह आपकी ही सामर्थ्य है। आप करनी-न-करनी सभी कुछ कर सकते हैं। आपकी महिमाका पार कौन पा सकता है? मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कीजिये और मुझे अपने मनोवाञ्छित वरदानको दीजिये।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'हरिदास! तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध करनेकी भला सामर्थ्य ही किसकी है? जिसमें तुम्हें सुख हो, वही करो।'

प्रभु इतना कहकर अपने स्थानको चले गये। महाप्रभुने गोविन्दसे कह दिया कि 'हरिदासकी खूब देख-रेख रक्खो, अब वे इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़ना चाहते हैं।' गोविन्द प्रसाद लेकर रोज जाता था, किन्तु हरिदासजीकी भूख तो अब समाप्त हो गयी। फूटे हुए फोड़ेमें

पुलटिस बाँधनेसे लाभ ही क्या ! छिद्र हुए घड़ेमें जल रखनेसे प्रयोजन ही क्या ! उसमें अब जल सुरक्षित न रहेगा।

महाप्रभु नित्य हरिदासजीको देखने जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा, हरिदासजीके शरीरकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। वे उसी समय अपने आश्रमपर गये और उसी समय गोविन्दके द्वारा अपने सभी अन्तरङ्ग भक्तोंको बुलाया। सबके आ जानेपर प्रभु उन्हें साथ लिये हुए हरिदासजीके आश्रममें जा पहुँचे। हरिदासजी पृथ्वीपर पड़े हुए धीरे-धीरे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका जप कर रहे थे। प्रभुने पूछा—'क्यों हरिदास! कहो, क्या हाल है?'

'सब आनन्द है प्रभो!' कहकर हरिदासने कष्टके साथ करवट बदली। महाप्रभु उनके मस्तकपर धीरे-धीरे हाथ फिराने लगे। राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप दामोदर, वक्रेश्वर पण्डित, गदाधर गोस्वामी, काशीश्वर, जगदानन्द पण्डित आदि सभी अन्तरङ्ग भक्त हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। धीरे-धीरे भक्तोंने संकीर्तन आरम्भ किया। भट्टाचार्य जोशमें आकर उठ खड़े हुए और जोरोंसे नृत्य करने लगे। अब तो सभी भक्त उठकर और हरिदासजीको घेरकर जोरोंके साथ गाने, बजाने और नाचने लगे। संकीर्तनकी कर्णप्रिय ध्वनि सुनकर सैकड़ों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये। कुछ क्षणके अनन्तर प्रभुने संकीर्तन बंद करा दिया, भक्तोंके सहित हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। प्रभुके दोनों कमलके समान नेत्रोंमें जल भरा हुआ था, कण्ठ शोकके कारण गद्गद हो रहा था। उन्होंने कष्टके साथ धीरे-धीरे रामानन्द तथा सार्वभौम आदि भक्तोंसे कहना आरम्भ किया—'हरिदासजीके भक्तिभावका बखान सहस्र

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण असम्भव-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु वेश्याकी घटना, पेयकी घटना, नागकी घटना तथा इनके ब्रह्मचर्यकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनों आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन नामोंको उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस जीर्ण-शीर्ण कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये। उनकी

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण अलभ्य-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु बेंतोंकी घटना, वेश्याकी घटना, नागकी घटना तथा इनके सम्बन्धकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनों आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन नामोंका उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये।

आँखें खुली-की-खुली ही रह गयीं, उनके फिर पलक गिरे नहीं। चकोरकी तरह मानो वे पलकहीन आँखें, निरन्तररूपसे चैतन्यको आनन्द प्रदान करनेवाले चैतन्यरूपी चन्द्रका आश्रय ग्रहण करके उन्हींकी ओर टकटकी लगाये अविच्छिन्नभावसे देख रही हैं। सभी भक्तोंने एक स्वरसे हरिध्वनि की। महाप्रभु उनके प्राणहीन कलेवरको अपनी गोदीमें उठाकर जोरोंके साथ नृत्य करने लगे। सभी भक्त रुदन करते हुए 'हरि बोल, हरि बोल' की हृदयविदारक ध्वनिसे मानो आकाशके हृदयके भी टुकड़े-टुकड़े करने लगे। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। जहाँ चैतन्य हरिदासके प्राणहीन शरीरको गोदीमें लेकर रोते-रोते नृत्य कर रहे हों वहाँ अन्य भक्तोंकी क्या दशा हुई होगी, इसका पाठक ही अनुमान लगा सकते हैं। उसका कथन करना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।

इस प्रकार बड़ी देरतक भक्तोंके सहित प्रभु कीर्तन करते रहे। अनन्तर श्रीजगन्नाथजीका प्रसादी वस्त्र मँगाया गया। उसमें उनके शरीरको लपेटकर उनका बड़ा भारी विमान बनाया गया। सुन्दर कलेवरकी डोरियोंसे कसकर उनका शरीर विमानपर रखा गया। सैकड़ों भक्त झाल, करताल, झाँझ, मृदङ्ग और शङ्ख, घड़ियाल आदि बजाते हुए विमानके आगे-आगे चलने लगे। सभी भक्त बारी-बारीसे हरिदासजीके विमानको कन्धा लगाते थे। महाप्रभु सबसे आगे विमानके सामने अपना उद्दण्ड नृत्य करते जाते थे। वे हरिदासजीके गुणानुवादोंको निरन्तर गान कर रहे थे। इस प्रकार खूब धूम-धामके साथ वे हरिदासजीके शवको लेकर समुद्रतट पहुँचे।

पान किया। सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा। बालूमें एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया। क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंमें ऐसी ही विधि बतायी है। प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमें बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया। सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया। पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे। सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे। वे कहते थे—'भैया! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे। तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं! भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये। जित [illegible] देंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित [illegible] प्रभुके [illegible]

पान किया । सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा । बालूमें एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया । क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंने ऐसी ही विधि बतायी है । प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमें बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया । सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया । पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे । सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे । वे कहते थे—'भैया ! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो ।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे । तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं ? भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये । जितना भी आप चाहेंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित कर देंगे ।' इस प्रकार प्रभुको समझा-बुझाकर स्वरूप गोस्वामीने उन्हें स्थानपर भिजवा दिया और आप चार-पाँच भक्तोंको साथ लेकर दूकानोंपर महाप्रसाद माँगने चले। उस दिन दूकानदारोंने उदारताकी हद कर डाली । उनके पास जितना भी प्रसाद था, सभी दे डाला । इतनेमें ही वाणीनाथ, काशी मिश्र आदि बहुत-से भक्त बहुत-सा प्रसाद लेकर प्रभुके आश्रमपर आ उपस्थित हुए । चारों ओर महाप्रसादका ढेर लग गया । जो भी सुनता वही हरिदासजीके विजयोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये दौड़ा आता । इस प्रकार हजारों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये । महाप्रभु स्वयं अपने हाथोंसे सभीको

परोसने लगे। महाप्रभुका परोसना विचित्र तो होता ही था। एक-एक पत्तलपर चार-चार, पाँच-पाँच आदमियोंके योग्य भोजन और तारीफकी बात यह कि लोग सभीको खा जाते थे। भक्तोंने आग्रहपूर्वक कहा—'जबतक महाप्रभु प्रसाद न पा लेंगे, तबतक हममेंसे कोई एक ग्रास भी मुँहमें न देगा।' तब प्रभुने परोसना बंद कर दिया और आप पुरी तथा भारती आदि संन्यासियोंके साथ काशी मिश्रके लाये हुए प्रसादको पाने लगे; क्योंकि उस दिन प्रभुका उन्हींके यहाँ निमन्त्रण था। महाप्रभुने सभी भक्तोंको खूब आग्रहपूर्वक भोजन कराया। सभीने प्रसाद पा लेनेके अनन्तर हरिध्वनि की। तब प्रभु ऊपरको हाथ उठाकर कहने लगे—'हरिदासजीका जिसने संग किया, जिसने उनके दर्शन किये, उनके गढ़ेमें बालू दी, उनका पादोदक पान किया, उनके विजयोत्सवमें प्रसाद-पाया, वह कृतार्थ हो गया। उसे श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति अवश्य ही हो सकेगी। वह अवश्य ही भगवत्कृपाका भाजन बन सकेगा।' यह कहकर प्रभुने जोरोंसे हरिदासजीकी जय बोली। 'हरिदासजीकी जय' के विशाल घोषसे आकाशमण्डल गूँजने लगा। हरि-हरि-ध्वनिके साथ हरिदासजीका विजयोत्सव समाप्त हुआ।

श्रीक्षेत्र जगन्नाथपुरीमें टोटा गोपीनाथजीके रास्तेमें समुद्रतीरपर अब भी हरिदासजीकी सुन्दर समाधि बनी है। वहाँपर एक बहुत पुराना बकुल (मौलसिर) का वृक्ष है, उसे 'सिद्ध बकुल' कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि हरिदासजीने दातौन करके उसे गाड़ दिया था उसीसे यह वृक्ष हो गया। अब भी वहाँ प्रतिवर्ष अनन्त चतुर्दशीके दिवस हरिदासजीका विजयोत्सव मनाया जाता है। उन महाभाग हरिदासजीके चरणोंमें हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हुए उनके इस विजयोत्सव प्रसंगको समाप्त करते हैं।

भक्त कालिदासपर प्रभुकी परमकृपा

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥*

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । ३२)

वैष्णव-ग्रन्थोंमें 'भक्त-पद-रज', 'भक्त-पादोदक' और 'भक्तोच्छिष्ट द्रव्य' इन तीनोंका अत्यधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है। श्रद्धालु भक्तोंने इन तीनोंको ही साधनबल बताया। सचमुच जिन्हें इन तीनों वस्तुओंमें पूर्ण श्रद्धा हो गयी, जिनकी बुद्धिमेंसे भक्तोंके प्रति भेदभाव मिट गया, जो भगवत्स्वरूप समझकर सभी भक्तोंकी पदधूलिको श्रद्धापूर्वक सिरपर चढ़ाने लगे तथा भक्तोंके पादोदकको भक्तिभावसे पान

---

* जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, ऐसे परम पूजनीय भगवद्भक्त महापुरुषोंके चरणोंके नीचेकी धूलिको जबतक सर्वाङ्गमें लगाकर उससे स्नान न किया जाय तबतक किसीकी भी प्रभुपादपद्मोंमें प्रीति प्राप्त नहीं हो सकती।

करने लगे, वे निहाल हो गये, उनके लिये भगवान् फिर दूर नहीं रह जाते। उनकी पदधूलिकी लालसासे भगवान् उनके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं, किन्तु इन तीनोंमें पूर्ण श्रद्धा होना ही तो महाकठिन है। महाप्रसाद, गोविन्द, भगवन्नाम और वैष्णवोंके श्रीविग्रहमें पूर्ण विश्वास भगवत्-कृपापात्र किसी विरले ही महापुरुषको होता है। यों दूध पीनेवाले बनावटी मजनू तो बहुत-से घूमते हैं। उनकी परीक्षा तो कटोराभर खून माँगनेपर ही हो सकती है। वे महापुरुष धन्य हैं, जो भक्तोंकी जाति-पाँति नहीं पूछते। भगवान्में अनुराग रखनेवाले सच्चे भगवत्-भक्तको वे ईश्वर-तुल्य ही समझकर उनकी सेवा-पूजा करते हैं। भक्तप्रवर श्री-कालिदास ऐसे ही परम भागवत भक्तोंमेंसे एक जगद्वन्द्य श्रद्धालु भक्त थे। उनकी अद्वितीय भक्तिनिष्ठाको सुनकर सभीको परम आश्चर्य होगा।

कालिदासजी जातिके कायस्थ थे। इनका घर श्रीरघुनाथदासजीके गाँवसे कोस-डेढ़-कोस भेदा या भदुआ नामक ग्राममें था। जाति-सम्बन्धसे ये रघुनाथदासजीके समीपी और सम्बन्धी थे। भगवन्नाममें इनकी अनन्य निष्ठा थी। उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-खेलते तथा बातें करते-करते भी सदा इनकी जिह्वापर भगवन्नाम ही विराजमान रहता। हरे कृष्ण हरे रामके बिना ये किसी बातको कहते ही नहीं थे। भगवत्-भक्तोंके प्रति इनकी ऐसी अद्भुत निष्ठा थी, कि जहाँ भी किसी भगवत्-भक्तका पता पाते वहीं दौड़े जाते और यथाशक्ति उनकी सेवा करते। भक्तोंको अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलानेमें इन्हें परमानन्दका अनुभव प्राप्त होता। भक्तोंको जब ये श्रद्धापूर्वक सुस्वादु पदार्थ खिलाते तो उनके दिव्य स्वादोंका ये स्वयं भी अनुभव करते। स्वयं खानेसे इन्हें इतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी कि भक्तोंको खिलानेसे। भक्तोंको खिलाकर ये स्वयं उनका उच्छिष्ट महाप्रसाद पाते। कोई-कोई भक्त संकोचवश

इन्हें अपना उच्छिष्ट नहीं देता तो ये उसके बर्तनोंको ही चाटते। उसी महाप्रसादको पाकर ये अपनेको कृतार्थ समझते। निरन्तर भगवन्नामोंका जप करते रहना, भक्तोंका पादोदक पान करना, उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाना और उनके उच्छिष्ट महाप्रसादको पूर्ण श्रद्धाके साथ पाना ही ये इनके साधनबल थे। इसके अतिरिक्त ये योग, यज्ञ, तप, पूजा, पाठ, अध्ययन और अभ्यास आदि कुछ भी नहीं करते थे। इनका विश्वास था कि हमें इन्हीं साधनोंके द्वारा प्रभुपादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त हो जायगी। ऐसा इन्हें दृढ़ विश्वास था, इसमें बनावटकी गन्धतक भी नहीं थी।

इनके गाँवमें ही एक झाडू नामके भूमिमाली जातिके शूद्र भगवत्-भक्त थे। उनकी पत्नी भी अत्यन्त ही पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थी। दोनों ही खूब भक्तिभावसे श्रीकृष्णकीर्तन किया करते थे। एक दिन भक्त कालिदासजी उन दोनों भक्तदम्पतिके दर्शनोंके निमित्त उनके घरपर गये। उन दिनों आमोंकी फसल थी, इसलिये वे उनकी भेंटके लिये बहुत बढ़िया-बढ़िया सुन्दर आम ले गये थे। प्रतिष्ठित कुलोद्भूत कालिदासको अपनी टूटी झोंपड़ीमें आया देखकर उस भक्तदम्पतिके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उन दोनोंने उठकर कालिदासजीकी अभ्यर्थना की और उन्हें बैठनेके लिये एक फटा-सा आसन दिया। कालिदासजीके सुखपूर्वक बैठ जानेपर कुछ लज्जितभावसे अत्यन्त ही कृतज्ञता प्रकट करते हुए झाडू भक्त कहने लगे—'महाराज! आपने अपनी पदधूलिसे इस शूद्राधमकी कुटीको परम पावन बना दिया। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषोंका हम-जैसे नीच जातिके पुरुषोंके यहाँ आना साक्षात् भगवान‍्के पधारनेके समान है। हम एक तो वैसे ही शूद्र हैं दूसरे धन-हीन, फिर आपकी किस प्रकार सेवा करें। आप-जैसे अतिथि हमारे यहाँ

पाईके आने लगे, हम आपका सत्कार किस वस्तुसे करें। आज्ञा हो तो किसी ब्राह्मणके यहाँसे कोई वस्तु बनवा लावें।'

कालिदासजीने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'आप दोनोंके शुभ दर्शनोंसे ही मेरा सर्वश्रेष्ठ सत्कार हो चुका। यदि आप कृपा करके कुछ करना ही चाहते हैं, तो यही कीजिये कि अपने चरणोंको मेरे मस्तकपर रखकर उनकी पावन परागसे मेरे मस्तकको पवित्र बना दीजिये। यही मेरी आपसे प्रार्थना है, इसीके द्वारा मुझे सब कुछ मिल जायगा।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ गिड़गिड़ाते हुए झाड़ू भक्तने कहा—'स्वामी! आप यह कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं। भला, हम जातिके शूद्र, धर्म-कर्मसे हीन, आपके शरीरको स्पर्श करनेतकके भी अधिकारी तो नहीं हैं, फिर हम आपको अपने पैर कैसे छुआ सकते हैं। हमारी यही आपसे प्रार्थना है कि ऐसी पाप चढ़ानेवाली बात फिर आप कभी भी अपने मुँहसे न निकालें। इससे हमारे सर्वनाश होनेकी सम्भावना है।'

कालिदासजीने कहा—'जो भगवान्‌का भक्त है, उसकी कोई जाति नहीं होती। वह तो जाति-वर्णोंसे परे होता है। उससे श्रेष्ठ कोई नहीं होता, वही सबसे श्रेष्ठ होता है। इसलिये आप जाति-कुलका भेदभाव न करें। आप परम भागवत हैं, आपकी पदधूलिसे मैं पावन हो जाऊँगा, आप मेरे ऊपर अवश्य कृपा करें।

झाड़ू भक्तने कहा—'मालिक! आपकी इस बातको मैं मानता हूँ, कि भगवद्भक्त वर्ण और आश्रमोंसे परे होता है। वह सबका गुरु और पूजनीय होता है, उससे बढ़कर कोई भी नहीं होता, किन्तु वह भक्त

होना चाहिये । मैं अधम भला भक्तिभाव क्या जानूँ । मुझे तो भगवान्‌में तनिक भी प्रीति नहीं । मैं तो संसारी गर्तमें फँसा हुआ नीच विषयी पुरुष हूँ ।'

कालिदासजीने कहा—'सचमुच सच्चे भक्त तो आप ही हैं । जो अपनेको भक्त मानकर सबसे अपनी पूजा कराता है, अपने भक्तिभावका विज्ञापन बाँटता फिरता है, वह तो भक्त नहीं दूकानदार है, भक्तिके नाम-पर पूजा-प्रतिष्ठा खरीदनेवाला बनिया है । सच्चा भक्त तो आपकी तरह सदा अमानी, अहंकाररहित सदा दूसरोंको मान प्रदान करनेवाला होता है, उसे इस बातका स्वप्नमें भी अभिमान नहीं होता कि मैं भक्त हूँ । यही तो उसकी महानता है । आप छिपे हुए सच्चे भगवद्भक्त हैं । हीन कुलमें उत्पन्न होकर आपने अपनेको छिपा रखा है, फिर भी भक्ति ऐसी अलौकिक कस्तूरी है कि वह कितनी भी क्यों न छिपायी जाय, सच्चे पारखी तो उसे पहचान ही लेते हैं । कृपा करके अपनी चरणधूलिसे मेरे अंगको पवित्र बना दीजिये ।

इस प्रकार कालिदासजी बहुत देरतक उनसे आग्रह करते रहे, किन्तु झाड़ू भक्तने उसे स्वीकार नहीं किया । अन्तमें वे दोनों पति-पत्नीको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे विदा हुए । झाड़ू भक्तने शिष्टाचारके अनुसार उन्हें थोड़ी दूर घरसे बाहरतक पहुँचानेके लिये उनके पीछे-पीछे आये । जब कालिदासजीने उनसे आग्रहपूर्वक लौट जानेको कहा तो वे लौट गये । कालिदासजी नहीं खड़े रहे । झाड़ू भक्त जब अपनी कुटियामें घुस गये तब जिस स्थानपर उनके चरण पड़े थे, उस स्थानकी धूलिको उठाकर उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरपर लगाया और एक ओर घरके बाहर छिपकर बैठ गये ।

रात्रिका समय था। झाड़ू भक्तकी स्त्रीने अपने पतिसे कहा—'कालिदासजी ये प्रसादी आम दे गये हैं, इन्हें भगवत्-अर्पण करके पा लो। भक्तका दिया हुआ प्रसाद है—इसके पानेसे कोटि जन्मोंके पाप कटते हैं।'

झाड़ू भक्तने उल्लासके साथ कहा—'हाँ, हाँ, उन आमोंको अवश्य लाओ। उनके पानेसे तो श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होगी।'

पतिकी आज्ञा पाते ही पतिपरायणा पत्नी उन आमोंकी टोकरीको उठा लायी। झाड़ूने मनसे ही आमोंको भगवत्-अर्पण किया और फिर उन्हें प्रसाद समझकर पाने लगे। उनके चूस लेनेपर जो बचता उसे उनकी पतिव्रता स्त्री चूसती जाती और गुठली तथा छिल्कोंको बाहरकी ओर फेंकती जाती। पीछे छिपे हुए कालिदासजी उन गुठलियोंको उठा-उठाकर चूसते और उनमें से अमृतके समान स्वादका अनुभव करते। इस प्रकार भक्तोंके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतार्थ समझकर वे बहुत रात्रि बीते अपने घर आये।

इस प्रकारकी इनकी भक्तोंके प्रति अनन्य श्रद्धा थी। एक बार गौड़ीय भक्तोंके साथ वे भी नीलाचलमें प्रभुके दर्शनोंके लिये पधारे। इनके ऐसे भक्तिभावकी बातें सुनकर प्रभु इनसे अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और इन्हें बड़े ही सम्मानके साथ अपने पास रखा।

महाप्रभु जब जगन्नाथजीके मन्दिरमें दर्शनोंके लिये जाते, तब सिंहद्वारके समीप वे एक गड्ढेमें पैर धोया करते थे। गोविन्द उनके साथ ही जाता था। प्रभुने कठोर आज्ञा दे रखी थी कि यहाँ हमारे पादोदकको कोई भी पान न करे इसलिये वहाँ जाकर प्रभुके पादोदक पान करने-

का साहस किसीको भी नहीं होता था। किन्तु भक्तोंका पादोदक और भक्तभुक्त अन्न ही जिनके साधनका एकमात्र बल है, वे कालिदासजी भला कब माननेवाले थे। वे निर्भीक होकर प्रभुके समीप जाने गये और उनके पैर धोये हुए जलको पीने लगे। एक चुल्लू पीया, प्रभु चुपचाप उनके मुखकी ओर देखते रहे। दूसरा चुल्लू पीया, प्रभु थोड़े-से मुस्कराये, तीसरा चुल्लू पीया, प्रभु जोरोंसे हँस पड़े। चौथे चुल्लूके लिये ज्यों ही उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही प्रभुने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे—'बस, बहुत हुआ। अब फिर कभी ऐसा साहस न करना।' इस प्रकार अपनेको बड़भागी समझते हुए कालिदासजी जगन्नाथजी-के दर्शन करते हुए प्रभुके साथ-ही-साथ अपने निवासस्थानपर आये। महाप्रभुने भिक्षा पायी और भिक्षा पानेके अनन्तर सङ्केतसे गोविन्दको आज्ञा दे दी कि कालिदासजीको हमारा उच्छिष्ट प्रसाद दे दो। प्रभुका सङ्केत समझकर गोविन्दने कालिदासजीको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद दे दिया। पादोदकके अनन्तर प्रभुके अधरामृतविशिष्ट उच्छिष्ट प्रसाद-को पाकर उनकी प्रसन्नताका वारापार नहीं रहा। धन्य है, ऐसे भक्ति-भावको और धन्य है उनके ऐसे देवदुर्लभ सौभाग्यको, जिनके लिये महाप्रभुने स्वयं उच्छिष्ट प्रसाद देनेकी आज्ञा प्रदान की।

जगदानन्दजीके साथ प्रेम-कलह

अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य मृदुनः कथम्।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम्॥*

(सु० र० भां० ३२९ । १)

प्रेम-कलहमें कितना मिठास है, इसका अनुभव प्रेमी हृदय ही कर सकता है। यदि प्रेममेंसे कलह पृथक् कर दी जाय तो उसका स्वाद उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार चीनी निकालकर भाँति-भाँतिके मेवा डालकर बनाये हुए हलुएका। चीनीके बिना जिस प्रकार खूब घी डालकर बनाया हुआ भी हलुआ स्वादिष्ट और चित्तको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला नहीं होता उसी प्रकार जबतक बीच-बीचमें मधुर-मधुर कलहका सम्पुट न लगता रहे, तबतक उसमें निरन्तर रस नहीं आता। प्रणय-कलह प्रेमको नित्य नूतन बनाती रहती है। कलह प्रेमरूपी कभी न फटनेवाली चद्दरकी सज्जी है, वह उसे समय-समयपर धोकर खूब साफ बनाती रहती है। किन्तु यह कलह मधुरभावके उपासकोंमें ही भूषण समझी जाती है, अन्य भावोंमें तो इसे दूषण कहा है।

---

* तुम्हारा रूप तो दयाभावसे धीरे-धीरे उपभोग करनेयोग्य अत्यन्त ही मृदुल है, परन्तु चित्त शिरीष-पुष्पके बन्धनकी भाँति इतना कठोर क्यों है ? [जैसे शिरीषके फूलोंकी पंखुड़ियाँ कितनी मुलायम, कितनी कोमल तथा सुखस्पर्शयुक्त होती हैं। कामिनियाँ अपने कोमल करकमलोंकी अत्यन्त ही मुलायम उँगलियोंसे भी डरते-डरते छूती हैं कि उन्हें कष्ट न हो, तिसपर भी जिसमें वे पंखुड़ियाँ बँधी रहती हैं, वह बन्धन कितना अधिक कठोर होता है। विधाताकी विचित्र गति है।]

पण्डित जगदानन्दजीको पाठक भूले न होंगे, ये नवद्वीपमें श्रीनिवास पण्डितके यहाँ प्रभुके साथ सदा कीर्तनमें सम्मिलित होते थे। संन्यास ग्रहण करके जब प्रभु पुरीके लिये पधारे तो ये भी प्रभुका दण्ड लिये हुए एक साधारण सेवककी भाँति उनके पीछे-पीछे चले और रास्तेभर ये स्वयं भिक्षा माँगकर प्रभु तथा अन्य सभी साथियोंको भोजन बनाकर खिलाते थे। प्रभुके पहले वृन्दावन जानेपर ये भी साथ चले थे। और फिर रामकेलिसे ही उनके साथ लौट भी आये थे। प्रभुके नीलाचलमें स्थायी रहनेपर ये भी यहाँ स्थायीरूपसे रहने लगे। बीच-बीचमें प्रभुकी आज्ञासे शचीमाताके लिये भगवान्‌का प्रसादी वस्त्र और महाप्रसाद लेकर ये नवद्वीप आया-जाया भी करते थे। प्रभुके प्रति इनका अत्यन्त ही मधुरभाव था। भक्त इनके अत्यन्त ही कोमल मधुरभावको देखकर इन्हें सत्यभामाका अवतार बताया करते थे और सचमुच इनकी उपासना थी भी इसी भावकी। ये प्रभुके संन्यासकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। ये चाहते थे, प्रभु खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खायँ, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनें और अच्छे-अच्छे स्वच्छ और सुन्दर आसनोंपर शयन करें। प्रभु यतिधर्मके विरुद्ध इन वस्तुओंका सेवन करना चाहते नहीं थे। बस, इसी बातपर कलह होती। कलहका प्रधान कारण यही था कि जगदानन्द प्रभुके शरीरकी तनिक-सी भी पीड़ाको सहन नहीं कर सकते थे और प्रभु शरीर-पीड़ाकी कभी परवा ही नहीं करते थे। जगदानन्दजी अपने प्रेमके उद्रेकमें प्रभुसे कड़ी बातें भी कह देते और प्रभु भी इनसे सदा डरते-से रहते।

एक बार ये महाप्रसाद और वस्त्र लेकर नवद्वीपमें शचीमाताके समीप गये। माता इन्हें देखकर अपने निमाईके दर्शनोंका अनुभव करती थीं और सभी गौरभक्त भी इनके दर्शनोंसे श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनों-का-सा आनन्द प्राप्त करते। ये आते तो सभी भक्तोंसे मिलकर ही

आते। नवद्वीपसे आचार्यके घर शान्तिपुर होते हुए ये शिवानन्दजी सेन-के घर भी गये। वहाँसे ये एक कलस सुगन्धित चन्दनादि तैल प्रभुके निमित्त लेते आये। प्रभु सदा भावमें विभोर-से रहते। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी नसें ढीली हो जातीं और सम्पूर्ण शरीरमें पीड़ा होने लगती। इन्होंने सोचा कि इस तैलसे प्रभुकी वातपित्तजन्य सभी व्याधियाँ शान्त हो जाया करेंगी। प्रेमके आवेशमें पण्डित होकर भी ये इस बातको भूल गये कि संन्यासीके लिये तैल लगाना शास्त्रोंमें निषेध है। प्रेममें युक्तायुक्त-विचारणा रहती ही नहीं। प्रेमीके लिये कोई लौकिक नियम नहीं, उसकी मथुरा तो तीन लोकसे न्यारी है। जगदानन्दजीने तैल लाकर गोविन्दको दे दिया और उससे कह दिया कि इसे प्रभुके अङ्गोंमें मल दिया करना।

गोविन्दने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो! जगदानन्द पण्डित गौड़देशसे यह चन्दनादि तैल लाये हैं और शरीरमें मलनेके लिये कह गये हैं। अब जैसी आज्ञा हो वैसा ही मैं करूँ।'

प्रभुने कहा—'एक तो जगदानन्द पागल हैं, उनके साथ तू भी पागल हो गया। भला, संन्यासी होकर कहीं तैल लगाया जाता है, फिर तिसपर भी सुगन्धित तैल!' रास्तेमें जाते हुए देखेंगे, वे ही कहेंगे—'यह शौकीन संन्यासी कैसा शृंगार करता है। सभी विषयी कहकर मेरी निन्दा करेंगे। मुझे ऐसा तैल लगाना ठीक नहीं है।' गोविन्द इस उत्तरको सुनकर चुप हो गया।

दो-चार दिनके पश्चात् जगदानन्दजीने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! तुमने वह तैल प्रभुके शरीरमें लगाया नहीं?'

गोविन्दने कहा—'वे लगाने भी दें तब तो लगाऊँ! वे तो मुझे डाँटते थे।'

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! तैंने भी उनके डाँटनेका खूब ख्याल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना । मेरा नाम ले देना ।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है । हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा ।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तेलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये । उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष ?'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो । आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिश करनेवाला और रख लो । जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है ! वे यदि परिश्रम करके लाये हैं, तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ । वहाँ दीपकोंमें जल जायगा । उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आनेसे यह तैल भी सार्थक हो जायगा ।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटकारको सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्बन्धमें नहीं कहा ।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं । दूसरे दिन जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समीप आये । प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर कुछ खरी-खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहले-से-पहले ही प्रसङ्ग छेड़ दिया । वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे मधुर वचनोंमें

जगदानन्दजीसे कहने लगे—'जगदानन्दजी ! आप गौड़देशसे बड़ा सुन्दर तैल लाये हैं। मेरी तो इच्छा होती है, थोड़ा-सा इसमेंसे लगाऊँ, किन्तु क्या करूँ, संन्यास धर्मसे विवश हूँ। आप स्वयं ही पण्डित हैं, यह बात आपसे छिपी थोड़े ही है कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल लगाना महापाप है। इसीलिये मैं लगा नहीं सकता। आप एक काम करें, इस तैलको जगन्नाथजीकी भेंट कर आइये, वहाँ इसके दीपक जल जायँगे, आपका सभी परिश्रम सफल हो जायगा।'

जगदानन्दजीने कुछ रोषके स्वरमें कहा—'आपसे यह बिना सिर-पैरकी बात कह किसने दी। मैं कब तैल लाया हूँ ?'

प्रभुने हँसते-हँसते कहा—'आप सच्चे, मैं झूठा। इस तैलके कलस-को मेरे यहाँ कोई देवदूत रख गया।'

यह सुनकर जगदानन्दजी रोषमें उठे और उस तैलके कलसको उठाकर जोरसे आँगनमें दे मारा। कलस आँगनमें गिरते ही चकनाचूर हो गया। सम्पूर्ण तैल आँगनमें बहने लगा। कलसको फोड़कर जगदा-नन्दजी जल्दीसे अपने घरको चले गये और भीतरसे घरके किवाड़ बंद करके पड़ रहे। दो दिनतक न तो अन्न-जल ग्रहण किया और न बाहर ही निकले। प्रणयकोपमें भीतर ही पड़े रहे।

तीसरे दिन प्रभु स्वयं उनके घर पहुँचे और किवाड़ खटखटाकर बोले—'पण्डित ! पण्डित ! भीतर क्या कर रहे हैं, बाहर तो आइये, आपसे एक बात कहनी है।' किन्तु पण्डित किसकी सुनते हैं, वे तो खटपाटी लिये पड़े हैं।

तब प्रभुने उसी स्वरमें बाहर खड़े-ही-खड़े कहा—'देखिये, मैं आपके द्वारपर भिक्षाके लिये खड़ा हूँ और आप किवाड़ भी नहीं खोलते। अतिथि जिसके आश्रमसे निराश होकर लौट जाता है, वह उस मनुष्यके

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! मैंने भी उनके डाँटनेका खूब खयाल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना। मेरा नाम ले देना।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है। हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! ये बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तैलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये। उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष ?'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो। आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिश करनेवाला और रख लो। जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है। वे यदि परिश्रम करके लाये हैं तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ। वहाँ दीपकोंमें जल जायगा, उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आ यह तैल भी सार्थक हो जायगा।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटक सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्बन्धमें नहीं कहा।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं। सु जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समी प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहलेसे-पहले ही दिया। वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पावेंगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताकेसे स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे?' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

सभी पुष्पोंको लेकर चला जाता है। देखिये, आज मेरी आपके यहाँ भिक्षा है, जल्दीसे तैयार कीजिये, मैं समुद्रस्नान और भगवान्‌के दर्शन करके अभी आता हूँ।' प्रभु इतना कहकर चले गये। अब जगदानन्दजीका क्रोध कितनी देर रह सकता था। 'प्रभुके लिये भिक्षा बनानी है' बस, इस विचारके आते ही, न जाने उनका क्रोध कहाँ चला गया। वे जल्दीसे उठे। उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान किया और रघुनाथ, रमाई पण्डित तथा और भी अपने साथी दो-चार गौड़ीय विरक्त भक्तोंको बुलाकर वे प्रभुकी भिक्षाका प्रबन्ध करने लगे। भोजन बनानेमें तो वे परम प्रवीण थे ही, भाँति-भाँतिके बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ उन्होंने प्रभुके लिये बना डाले। अभी वे पूरे पदार्थोंको बना भी नहीं पाये थे, कि इतनेमें ही मुसकराते हुए प्रभु स्वयं आ उपस्थित हुए। मनमें अत्यन्त ही प्रसन्न होते हुए और ऊपरसे हास्यसे युक्त किञ्चित् रोषयुक्त मुखसे उन्होंने एक बार प्रभुकी ओर देखा और फिर शाकको उलटने-पुलटने लगे। प्रभु जल्दीसे एक आसन स्वयं ही लेकर बैठ गये। अब तो जगदानन्दजी उठे। उन्होंने नीची दृष्टि किये हुए वहीं बैठे-ही-बैठे एक थालमें प्रभुके पादपद्मोंको पखारा। प्रभुने इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं की। फिर उन्होंने भाँति-भाँतिके पदार्थोंको सजाकर प्रभुके सामने परोसा। प्रभु चुपचाप बैठे रहे। जगदानन्दजीका अब मौन भंग हुआ। उन्होंने अपनी हँसीको भीतर-ही-भीतर रोकते हुए लज्जायुक्त मधुर वाणीसे अपनापन प्रकट करते हुए कहा—'प्रसाद पाते क्यों नहीं हैं?'

प्रभुने कहा—'मैं नहीं पाऊँगा।'

जगदानन्दजीने उसी भावसे नीची दृष्टि किये हुए कहा—'तब आये क्यों थे, कोई बुलाने भी तो नहीं गया था।'

प्रभुने कहा—'अपनी इच्छासे आया था, अपनी इच्छासे ही नहीं पाता।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पाओगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताके-से स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे?' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

करते हैं, अब तो सबके साथ मुझे प्रसाद पाना ही है, आप चलकर आराम करें।' यह सुनकर प्रभु गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द ! तू यहीं रह और जबतक मैं प्रसाद पा न लें तबतक मेरे पास मत आना'। यह कहकर प्रभु अकेले ही कमण्डलु उठाकर अपने निवासस्थानपर चले गये।

प्रभुके चले जानेपर जगदानन्दजीने गोविन्दसे कहा—'तुम जल्दी जाकर प्रभुके पैरोंको दबाओ। मैं तुम्हारे लिये प्रसाद रख छोड़ूँगा। सम्भव है प्रभु सो जायँ।' यह सुनकर गोविन्द चला गया और लेटे हुए प्रभुके पैर दबाने लगा। प्रभुने पूछा—'जगदानन्दने प्रसाद पाया ?' गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे पा लेंगे, उन्हें अभी थोड़ा कृत्य शेष है।' यह कहकर वह धीरे-धीरे प्रभुके तलुओंको दबाने लगे। प्रभु कुछ झपकी-सी लेने लगे। थोड़ी देर बाद जल्दीसे आँख मलते-मलते कहने लगे—'गोविन्द ! जा देख तो सही, जगदानन्दने प्रसाद पाया या नहीं। यदि पा लिया हो या पा रहे हों तो मुझे आकर फौरन सूचना देना।' प्रभुकी आज्ञासे गोविन्द फिर गया। उसने जाकर देखा सब भक्तोंको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद देकर उसी पत्तलपर जगदानन्दजी खाने बैठे हैं। गोविन्दको देखते ही वे कहने लगे—'गोविन्द ! तुम्हारे लिये मैंने अलग परोसकर रख दिया है, आओ तुम भी बैठ जाओ।'

गोविन्दने कहा—'मैं पहले प्रभुको सूचना दे आऊँ, तब प्रसाद पाऊँगा। यह कहकर वह प्रभुको सूचना देने चला गया। 'जगदानन्दजी प्रसाद पा रहे हैं' यह सुनकर प्रभुको सन्तोष हुआ और उन्होंने गोविन्दको भी प्रसाद पानेके लिये भेज दिया। गोविन्दने आकर सभी भक्तोंके साथ बैठकर प्रसाद पाया और फिर सभी भक्त अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

इस प्रकारकी प्रेम-कलह महाप्रभु और जगदानन्दजीके बीचमें प्रायः होती रहती थी। इसमें दोनों ही आनन्दका अनुभव करते थे।
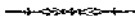
जगदानन्दजीकी एकनिष्ठा

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४७)

शास्त्रोंमें भक्तोंके उत्तम, मध्यम और प्राकृतरूपसे तीन भेद बताये हैं । जो भक्त अपने इष्टदेवको सर्वव्यापक समझकर प्राणिमात्रके प्रति श्रद्धाके भाव रखता है और सभी वस्तुओंमें इष्टबुद्धि रखकर उनका आदर करता है, वह सर्वोत्तम भक्त है । जो अपने इष्टमें प्रीति रखता है और अपने ही समान इष्टबन्धुओंके प्रति श्रद्धाके भाव, असाधकोंके प्रति कृपाके भाव, विद्वेषियों और भिन्नमतवालोंके प्रति उपेक्षाके भाव रखता है, वह मध्यम भक्त है और जो अपने इष्टके विग्रहमें ही श्रद्धाके

---

* जो पुरुष पूज्य श्रीविग्रहोंमें ही श्रद्धाके साथ श्रीहरिकी पूजा करता है और भगवद्भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंकी पूजा नहीं करता, उनकी उपेक्षा करता है, उसे शास्त्रोंमें प्राकृत भक्त कहा गया है ।

साथ उन श्रीहरिकी पूजा करता तथा भगवत्-भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंसे एकदम उदासीन रहता है, वह प्राकृत भक्त है। प्राकृत भक्त बुरा नहीं है, सच पूछिये तो भक्तिका सच्चा श्रीगणेश तो यहींसे होता है, जो पहले प्राकृत भक्त नहीं बना वह उत्तम तथा मध्यम भक्त बन ही कैसे सकता है। नीचेकी सीढ़ियोंको छोड़कर सबसे ऊँचीपर बिना योगेश्वरेश्वरकी कृपासे कोई भी नहीं जा सकता।

पण्डित जगदानन्दजी सरल प्रकृतिके भक्त थे, वे प्रभुके शरीर-सुखके पीछे सब कुछ भूल जाते थे। प्रभुके अतिरिक्त उनके लिये कोई पूजनीय संन्यासी नहीं था, प्रभुके सभी काम लीला हैं, यही उनकी भावना थी। महाप्रभु भी इनके ऊपर परमकृपा रखते थे। इनके क्षण-क्षणमें रूठने और क्रुद्ध होनेके स्वभावसे वे पूर्ण-रीत्या परिचित थे, इसीलिये इनसे कुछ भय भी करते थे। साधु-संन्यासीके लिये जिस प्रकार स्त्रीस्पर्श पाप है, उसी प्रकार रूई भरे हुए गुदगुदे वस्त्रका उपयोग करना पाप है। इसीलिये महाप्रभु सदा केलेके पत्तोंपर सोया करते थे। वे दिन-रात्रि श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते रहते थे। आहार भी उन्होंने बहुत ही कम कर दिया था। इसी कारण उनका शरीर अत्यन्त ही क्षीण हो गया था। उस क्षीण शरीरको केलेके पत्तोंपर पड़ा देखकर सभी भक्तोंको अपार दुःख होता था, किन्तु प्रभुके सम्मुख कुछ कहनेकी हिम्मत ही किसकी थी? सब मन मसोसकर इस दारुण दुःखको सहते और विधाताको धिक्कारते रहते कि ऐसा सुकुमार सुन्दर स्वरूप देकर फिर इस प्रकारका जीवन प्रभुको प्रदान किया, यह उस निर्दयी दैवका कैसा क्रूर कर्म है।

जगदानन्दजी प्रभुकी इस कठोरतासे सदा असन्तुष्ट रहते और अपने भोले स्वभावके कारण उनसे कभी-कभी इस प्रकारके हठोंको

त्यागनेका आग्रह भी किया करते, किन्तु प्रभु तो धीर थे, वे भला किसीके कहने-सुननेसे न्यायमार्गोंका कब परित्याग करने लगे। इसीलिये जगदानन्दजीके सभी प्रयत्न असफल ही होते, फिर भी वे अपने सीधे स्वभावके कारण सदा प्रभुको सुखी रखनेकी ही चेष्टा किया करते। उन्होंने जब देखा कि प्रभुके शरीरको केलेंके पत्तोंपर कष्ट होता है तो वे बाजारसे एक सुन्दर-सा वस्त्र खरीद लाये। उसे गेरुए रंगमें रँगकर उसके तोशक-तकिये बनाये। स्वयं सेमरकी रूई लाकर उन्होंने गद्दे-तकियेमें भरी और उन्हें गोविन्दको ले जाकर दे दिया। गोविन्दसे उन्होंने कह दिया—'इसे प्रभुके नीचे बिछा देना और ऊपरसे उनका वस्त्र डाल देना।' गोविन्दने जगदानन्दजीकी आज्ञासे डरते-डरते ऐसा ही किया। महाप्रभुने जब बिस्तरपर पैर रखा तभी उन्हें कुछ गुदगुदा-सा प्रतीत हुआ। वस्त्रको उठाकर देखा तो उसके नीचे गद्दा बिछा है और एक रंगीन तकिया लगा हुआ है। गद्दे-तकियेको देखकर प्रभुको क्रोध आ गया। उन्होंने उसी समय जोरसे गोविन्दको आवाज दी। गोविन्दका दिल धड़कने लगा। वह सब कुछ समझ गया कि प्रभुने गद्दे-तकियेको देख लिया और अब न जाने मुझे क्या-क्या कहेंगे। गोविन्द डरते-डरते धीरे-धीरे किवाड़की आड़में जाकर खड़ा हो गया। प्रभुने फिर आवाज दी—'गोविन्द! कहाँ चला गया? सुनता नहीं!'

धीरे-धीरे काँपती आवाजमें गोविन्दने कहा—'प्रभो! मैं उपस्थित हूँ, क्या आज्ञा है?'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे सने हुए शब्दोंमें प्रेमयुक्त रोषके साथ कहा—'तुम सब मिलकर मुझे धर्मभ्रष्ट करनेपर तुले हुए हो। मैंने अपना शरीर तुमलोगोंके अधीन कर रखा है, किन्तु तुम चाहते हो कि मैं विषय-भोगोंमें आसक्त रहूँ। विषयोंके उपभोगके लिये ही तो मैंने घर-त्याग

छोड़कर संन्यास लिया है, घरपर मैं विषय नहीं भोग सकता था। क्यों ठीक है न ?'

गोविन्दने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वह चुपचाप नीचा सिर किये हुए खड़ा रहा। स्वरूप गोस्वामी एक ओर चुपचाप बैठे हुए प्रभुको पद सुनानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे भी चुप ही बैठे रहे। प्रभु फिर कहने लगे—'पता नहीं, ये लोग भजन-ध्यान सब शरीरसुखके ही लिये करते हैं क्या ? दिन-रात्रि मेरे शरीरकी ही चिन्ता ! भाई ! चैतन्य तो इस शरीरसे पृथक् है, वह तो नित्य सुखमय, आनन्दमय और प्रेममय है। उसे ये संसारी पदार्थ भला क्या सुख पहुँचा सकते हैं। जिसे चैतन्य समझकर तुम सुखी बनाना चाहते हो, वह तो अचैतन्य है, नश्वर है, क्षणभंगुर है, विनाशी और सदा बदलते रहनेवाला है, इसीको सुखी बनानेका प्रयत्न करना महामूर्खता है।'

स्वरूप गोस्वामी चुपचाप सुनते रहे। प्रभुने फिर उसी प्रकार रोषके स्वरमें कहा—'क्यों रे गोविन्द ! तुझे यह सूझी क्या ? मैंने क्या सोचा कि मैं गद्दा-तकिया लगाकर विषयी पुरुषोंकी भाँति सोऊँगा ? तू ठीक-ठीक बता तुझे पैसे कहाँ मिले ? यह वस्त्र किससे माँगा ? सिलाईके दाम कहाँसे आये ?'

गोविन्दने धीरेसे सिर नीचा किये ही उत्तर दिया—'प्रभो ! जगदानन्द पण्डित मुझे इन्हें दे गये हैं और उन्हींकी आज्ञासे मैंने इसे बिछा दिया है।' जगदानन्दजीका नाम सुनकर प्रभु कुछ सहम गये। उन्हें इसके उपयोग न करनेका प्रत्यक्ष परिणाम आँखोंके सामने दीखने लगा। उनकी दृष्टिमें जगदानन्दकी रोषभरी दृष्टि साकार होकर नृत्य करने लगी। महाप्रभु फिर कुछ भी न कह सके। वे सोचने लगे कि अब क्या कहूँ, उनका रोष कपूरकी तरह एकदम न जाने कहाँ उड़ गया।

हृदयके भावोंके प्रवीण पारखी स्वरूप गोस्वामी महाप्रभुके मनोभावको ताड़ गये । इसीलिये धीरेसे कहने लगे—'प्रभो ! हानि ही क्या है, जगदानन्दजीको कष्ट होगा, इन्होंने प्रेमपूर्वक बड़े परिश्रमसे इसे स्वयं बनाया है । सेमलकी रूई है, फिर आपका शरीर भी तो अत्यन्त ही निर्बल है, मुझे स्वयं इसे केलेके पत्तोंपर पड़ा हुआ देखकर कष्ट होता है । अस्वस्थावस्थामें गद्देका उपयोग करनेमें तो मुझे कोई हानि प्रतीत नहीं होती । रुग्णावस्थाको ही आपत्तिकाल कहते हैं और आपत्तिकालमें नियमोंका पालन न हो सके तो कोई हानि भी नहीं । कहा भी है, 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति ।'

प्रभुने धीरे-धीरे प्रेमके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीको समझाते हुए कहा—'स्वरूप ! तुम स्वयं समझदार हो । तुम स्वयं सब कुछ सीखे हुए हो, तुम्हें कोई सिखा ही क्या सकता है । तुम सोचो तो सही, यदि संन्यासी इसी प्रकार अपने मनको समझाकर विषयोंमें प्रवृत्त हो जाय तो अन्तमें वह धीरे-धीरे महाविषयी बनकर पतित हो जायगा । विषयोंका कहीं अन्त ही नहीं । एकके पश्चात् दूसरी इच्छा उत्पन्न होती जाती है । जहाँ एक बार नियमसे भ्रष्ट हुए वहाँ फिर नीचेकी ओर पतन ही होता जाता है । पानीका प्रवाह ऊपरसे एक बार छूटना चाहिये, बस फिर वह नीचेकी ही ओर चलेगा । जिसके खूब साफ-सुथरे वस्त्र होते हैं, वही धूलि, मिट्टी और गंदी जगहमें न बैठनेकी परवा करता है, जहाँ एक बार वस्त्र मैले हुए कि फिर कहीं भी बैठनेमें संकोच नहीं होता । फिर वह वस्त्रोंकी रही-सही पवित्रताकी भी परवा नहीं करता । इसलिये तुम मुझसे गद्देपर सोनेका आग्रह मत करो । आज गद्दा है तो कल पलङ्ग भी चाहिये । परसों एक पैर दबानेवाले नौकरको रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होगी । क्या इसीलिये मैंने संन्यास लिया है कि ये ही सब सुख भोगता रहूँ ।'

प्रभुके इस मार्मिक उपदेशको सुनकर स्वरूप गोस्वामी फिर कुछ भी नहीं बोले। उन्होंने गोविन्दसे गद्दे-तकियेको उठानेका संकेत किया। गोविन्दने संकेत पाते ही वे मुलायम वस्त्र उठाकर एक ओर रख दिये। प्रभु उन्हीं पड़े हुए पत्तोंपर लेट गये।

दूसरे दिन स्वरूप गोस्वामी बहुत-से केलोंके खोपले उठा लाये और उन्हें अपने नखोंसे बहुत ही महीन चीर-चीरकर प्रभुके एक पुराने वस्त्रमें भर दिया। बहुत कहने-सुननेपर प्रभुने उस गद्देको बिछाना स्वीकार कर लिया।

जगदानन्दजीने गोविन्दके द्वारा जब सब समाचार सुना तब तो उन्हें अत्यन्त ही क्षोभ हुआ, किन्तु उन्होंने अपना क्षोभ प्रभुके सम्मुख प्रकट नहीं होने दिया, प्रभु भी सब कुछ समझ गये, इसलिये उन्होंने गद्दे-तकियेवाली बात फिर छेड़ी ही नहीं। जगदानन्दजीकी बहुत दिनोंसे वृन्दावन जानेकी इच्छा थी। उन्होंने प्रभुपर अपनी इच्छा प्रकट भी की थी, किन्तु प्रभुने इन्हें वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं दी। महाप्रभु जानते थे, ये सरल हैं, सीधे हैं, भोले हैं और संसारी बातोंसे एकदम अनभिज्ञ हैं। इन्हें देश, काल तथा पात्र देखकर बर्ताव करना नहीं आता। यों ही जो मनमें आता है कह देते हैं। सब लोग क्या जानें कि इनके हृदयमें द्वेष नहीं है। वे तो इनके क्रोधयुक्त वचनोंको सुनकर इन्हें बुरा-भला ही कहेंगे। ऐसे सरल मनुष्यको रास्तेमें अत्यन्त ही क्लेश होगा। यही सब समझ-सोचकर प्रभु इन्हें गौड़ तो भेज देते थे क्योंकि वहाँके सभी भक्त इनके स्वभावसे परिचित थे, किन्तु वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं देते थे। अबके जगदानन्दजीने फिर निश्चय किया कि 'प्रभु आज्ञा दे दें तो अवश्य व्रजमण्डलकी यात्रा कर आवें।' यह सोचकर उन्होंने एक

दन एकान्तमें स्वरूप गोस्वामीसे सलाह करके प्रभुसे वृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी।

प्रभुने कहा—'वैसे तो मैं आपको जानेके लिये अनुमति दे भी देता, किन्तु अब तो कभी अनुमति न दूँगा। मुझसे क्रुद्ध होकर जायँगे तो मेरा मन सदा उदास बना रहेगा।'

जगदानन्दजीने प्रेमयुक्त मधुरस्वरसे कहा—'प्रभो! आपपर भला कोई क्रोध कर सकता है। फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। मैं सच्चे हृदयसे कह रहा हूँ, क्रोध करके मैं नहीं जाता हूँ। मेरी तो बहुत दिनोंसे इच्छा थी। उसे आपके सम्मुख भी कई बार प्रकट कर चुका हूँ।'

इसपर बातका समर्थन करते हुए स्वरूपदामोदरजी कहने लगे—'हाँ प्रभो! इनकी बहुत दिनोंकी इच्छा है। भला, ये आपपर कभी क्रुद्ध हो सकते हैं। गौड़ भी तो ये प्रतिवर्ष जाया ही करते हैं, इसी प्रकार इन्हें व्रज जानेकी भी आज्ञा दे दीजिये।'

जगदानन्दजीने कहा—'हाँ प्रभो! वृन्दावनकी पावन धूलिको मस्तकपर चढ़ानेकी मेरी उत्कट इच्छा है, आपकी आज्ञाके बिना जा नहीं सकता।'

प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, आपकी उत्कट इच्छा है तो जाइये, किन्तु इतना ध्यान रखना कभी किसीसे विशेष बातें न करना। यहाँसे काशीजीतक तो कोई भय नहीं। आगे डाकू मिलते हैं, वे बङ्गाली समझकर आपको मार ही डालेंगे। इसलिये वहाँसे किसी धर्मात्मा क्षत्रियके साथ जाना। वृन्दावनमें सदा सनातनके ही साथ रहना। उन्हींके साथ तीर्थ और वनोंकी यात्रा करना। साधु-महात्माओंको दूरसे ही प्रणाम करना। उनसे बहुत अधिक सम्पर्क न रखना और न उनके साथ अधिक दिन ठहरना ही। व्रजकी यात्रा करके शीघ्र ही लौट आना। सनातनसे कह

लीलाओंका ही वर्णन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था। सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसे महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा। उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये। सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है। ... सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह ...के दिया है।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध सभय

देना, मैं भी ब्रज आऊँगा, मेरे लिये कोई स्थान ठीक कर लें ।' इस प्रकार उन्हें भाँति-भाँतिसे समझा-बुझाकर वृन्दावनके लिये विदा किया ।

जगदानन्दजी सभी गौरभक्तोंकी वन्दना करके और महाप्रभुकी चरणरज सिरपर चढ़ाकर झाड़ीखण्डके रास्तेसे वृन्दावनकी ओर चलने लगे। भिक्षा माँगते-खाते ये काशी, प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे । वहाँ रूप-सनातन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा सत्कार किया । ये सदा सनातन गोस्वामीके ही साथ रहते थे । उन्हींको साथ लेकर इन्होंने व्रजमण्डलके बारहों वनोंकी यात्रा की । सनातनजी घर-घरसे भिक्षा माँग लाते थे और इन्हें अन्न लाकर दे देते थे और ये अपना बना लेते थे । सनातनजी तो स्वयं व्रजवासियोंके घरोंमेंसे टुकड़े माँगकर ले आते थे और उन्हींपर निर्वाह करते थे । कभी जगदानन्दजीके समीप भी प्रसाद पा लेते थे ।

सब वनोंके दर्शन करते हुए ये महावन होते हुए गोकुलमें आये । गोकुलमें ये दोनों यमुनाजीके तटपर एक गुफामें ठहरे । रहते तो दोनों गुफामें थे किन्तु भोजनके लिये जगदानन्द तो एक मन्दिरमें जाते थे और वहाँ अपना भोजन अपने हाथसे बनाकर पाते थे । सनातनजी महावनमेंसे जाकर मधुकरी कर लाते थे । तबतक गोकुल इतना बड़ा गाँव नहीं बना था । गोस्वामियोंकी ही दो-तीन बैठकें तथा मन्दिर थे । इसीलिये भिक्षाके लिये इन्हें डेढ़-दो मील रोज जाना पड़ता था ।

एक दिन जगदानन्दजीने सनातनजीका निमन्त्रण किया । सनातनजी तो समान दृष्टि रखनेवाले उच्चकोटिके भक्त थे । वे संन्यासीमात्रको चैतन्यका ही विग्रह समझकर उनके प्रति उदार भाव रखते थे । वे अपने गुरुमें और श्रीकृष्णमें कोई भेदभाव नहीं मानते थे इसीलिये उन्होंने श्रीचैतन्यदेवको श्रीकृष्ण या अवतारी सिद्ध न करके श्रीकृष्ण-

लीलाओंका ही वर्णन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था। सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसी महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा। उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये। सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है। मुकुन्द सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह वस्त्र मुझे दिया है।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध उमड़ पड़ा। वे भला इस बातको कब सहन कर सकते थे कि गौरभक्त होकर कोई दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावे। उनका आदर केवल चैतन्यदेवके ही चरणोंमें सीमित था। जो कोई उसका आदर छोड़कर औरका आदर करता है, उनकी दृष्टिमें वह बुरा काम करता है। इसीलिये क्रोधमें भरकर वे चूल्हेकी हाँड़ीको उठाकर सनातनजीको मारने दौड़े। सनातनजी उनके ऐसे व्यवहारको देखकर लज्जित-से हो गये। जगदानन्द-जीने भी हाँड़ीको चूल्हेपर रख दिया और अपनी बातके समर्थनमें कहने लगे—'आप महाप्रभुके प्रधान पार्षदोंमेंसे हैं। भला, इस बातको कौन गौरभक्त सहन कर सकेगा कि आप किसी दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावें।'

इस बातको सुनकर हँसते हुए सनातनजी कहने लगे—'मैं दूसरे

ही आपकी एकनिष्ठाकी बातें सुना करता था, किन्तु आज प्रत्यक्ष आपकी निष्ठाका परिचय प्राप्त हुआ । श्रीचैतन्यचरणोंमें आपका इतना दृढ़ अनुराग है, उसका लेशमात्र भी मुझमें नहीं है । आपकी एकनिष्ठाको धन्य है । मैंने तो वैसे ही आपको दिखानेके लिये इसे पहन लिया था कि आप क्या कहेंगे ? वैसे तो मैं गेरुए वस्त्रका अधिकारी भी नहीं हूँ । वैष्णवको गेरुए वस्त्रका आग्रह ही नहीं होता ।' इस प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया । जगदानन्दजीकी यह निष्ठा बुरी नहीं थी । किन्तु यही साध्य नहीं है । साध्य तो यही है कि वे गेरुए वस्त्रमात्रमें चैतन्यके वस्त्रका अनुभव करते, उसमें शङ्काका स्थान ही न रह जाता । यदि कहें कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति परपुरुषका मुख देखना जिस प्रकार पाप है उसी प्रकार मधुररसके उपासकोंको अपने इष्टदेवके प्रति ऐसी निष्ठा ही सर्वोत्तम कही जाती है, सो ठीक नहीं । कारण कि पतिव्रताकी दृष्टिमें तो पतिके सिवा संसारमें कोई है ही नहीं । उसके लिये तो पति ही सर्वस्व है । पतिको छोड़कर दूसरा कोई तीर्थ उसके लिये है ही नहीं । परकीयाभावमें ऐसी निष्ठा प्रायः देखी जाती है, किन्तु उसमें भी संकीर्णता नहीं । वह भी संसारके सम्पूर्ण सौन्दर्यमें अपने स्वामीके सौन्दर्यका ही मान करती है । जैसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंने लता-पत्ता और जीव-जन्तुओंमें श्रीकृष्णस्पर्शजन्य आनन्दका ही अनुभव किया था । अस्तु, हमारा मतलब इतना ही है कि हमारी दृष्टिमें यह प्राकृत निष्ठा है । उत्तम निष्ठा इससे दूर है, किन्तु इसके द्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है ।

जगदानन्दजी कुछ काल व्रजमें रहकर महाप्रभुके समीप पुरीमें जानेकी तैयारियाँ करने लगे । प्रभुके लिये सनातनजीने रासलीला-स्थलोंकी रज, गोवर्धनपर्वतकी शिला, गुंजाओंकी माला और पके हुए

सूखे पीलू—ये चीजें प्रसादके लिये दीं। इन अकिंचन, त्यागी, भिक्षुक भक्तोंकी ये ही चीजें सर्वस्व थीं। टैंटी और पीलू व्रजमें ही अधिक होते हैं। बङ्गालमें तो लोग इन्हें पहचानते ही नहीं। पीलू बहुत कड़वा होता है और टैंटी उससे भी अधिक कड़वी। टैंटीका अचार ठीक पड़ता है। व्रजी टैंटीको व्रजमें पैंचू बोलते हैं। देखनेमें यह लाल-लाल बड़ी ही सुन्दर मालूम पड़ती है, किन्तु खानेमें ठीक आती है। व्रजके गौ चरानेवाले ग्वाल पैंचू और पके पीलू खाया करते हैं। उनमें बीज-ही-बीज भरे रहते हैं। रस तो बहुत ही थोड़ा बीजोंमें लगा हुआ होता है। बीजोंमेंके रसको चूसकर 'शरीफे' के बीजोंकी भाँति उन्हें थूक देते हैं। ये ही व्रजके मेवा हैं। श्रीकृष्ण भगवान्‌को ये ही बहुत प्रिय थे। क्यों प्रिय थे, इसका क्या पता! इसीसे तो खीजकर किसी भक्तने कहा है—

> काबुलमें मेवा करी, व्रजमें टैंटी खायँ।
> कहूँ कहूँ गोपालकी, मूलि सिटली जायँ॥

अस्तु, जगदानन्दजी सनातनजीके दिये हुए प्रसादको लेकर, उनसे विदा होकर पुरी आये। प्रभु इन्हें सकुशल लौटा हुआ देखकर परम प्रसन्न हुए। इन्होंने सनातनजीकी दी हुई सभी चीजें प्रभुके अर्पण कीं। प्रभुने सभीको श्रद्धापूर्वक सिरपर चढ़ाया। सब चीजें तो प्रभुने रख लीं, पीलुओंको उन्होंने भक्तोंमें बाँट दिया। भक्तोंने 'वृन्दावनके फल' समझकर उन्हें बड़े आदरसे ग्रहण किया। एक तो वृन्दावनके फल फिर महाप्रभुके हाथसे दिये हुए सभी भक्त बड़े चावसे खाने लगे। जो पहले वृन्दावन हो आये थे वे तो जानते थे कि ये अमृतफल किस प्रकार खाये जाते हैं, इसलिये वे तो मुँहमें डालकर उनकी गुठलियोंको धीरे-धीरे चूसने लगे। जो नहीं जानते थे वे जल्दीसे मुँहमें डालकर चबाने लगे। चबाते ही मुँह जहर कड़ुवा हो गया, नेत्रोंसे पानी

आ गया। सभी सी-सी करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। न तो खाते ही बनता था, न थूकते ही। वृन्दावनके प्रभुदत्त प्रसादको भला थूकें कैसे और खाते हैं तो प्राणोंपर बीतती है। खैर, जैसे-तैसे जलके साथ भक्त उन्हें निगल गये। प्रभु हँसते-हँसते कह रहे थे—'व्रजका प्रसाद पाना कोई सरल काम नहीं है। जो विषयभोगोंको ही सर्वस्व समझे बैठे हैं, उनका न तो व्रजकी भूमिमें वास करनेका ही अधिकार है और न व्रजके महाप्रसादको पानेका ही। व्रजवासी बननेका सौभाग्य तो उसे ही प्राप्त हो सकेगा जिसकी सभी वासनाएँ दूर हो गयी होंगी।' इस प्रकार जगदानन्दजीके आनेसे सभी भक्तोंको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे उसी प्रकार सुखपूर्वक फिर प्रभुके पास रहने लगे। जगदानन्दजीका हृदय शुद्ध था, उनका प्रभुके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वे प्रभुके शरीरसे ही अत्यधिक प्रेम करते थे। यह ठीक भी है। जिस कागजपर चित्र बना हुआ है उस कागजको यदि कोई प्यार करता है तो वह एक-न-एक दिन उसपर खिंचे हुए चित्रके सौन्दर्यसे भी प्यार करने लगेगा। जो सौन्दर्यको ही सर्वस्व समझकर कागजको व्यर्थ समझकर फेंक देता है तो कागज तो उसके हाथसे चला ही जाता है, साथ ही उसपर खिंचा हुआ चित्र और उसमेंका सौन्दर्य भी उसे फिर कभी नहीं मिल सकता। यह हो नहीं सकता कि हम घृतसे तो प्रेम करें और जिस पात्रमें घृत रखा है उसकी उपेक्षा कर दें। पात्रके साथ घृतका आधाराधेयभावका सम्बन्ध है। आधेयसे प्रेम करनेपर आधारसे अपने-आप ही प्रेम हो जाता है। आधारका प्रेम ही आधेयके प्रेमको प्राप्त करा सकता है। यही सर्वशास्त्रोंका सिद्धान्त है।

श्रीरघुनाथ भट्टको प्रभुकी आज्ञा

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।

कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥*

(सु० र० भां० १८८ । १२६)

परमहंस रामकृष्णदेव एक कथा कहा करते थे—'एक बगीचेमें बहुत-से साधु पड़े हुए थे । वहाँ एक परम सुन्दरी स्त्री दर्शनोंके लिये आयी ।

---

* दारा संसारको उत्पन्न करनेवाली है । संसारी बन्धुजन संसार-बन्धनको बढ़ानेवाले हैं । इन्द्रियोंके रूप, रस, स्पर्शादि विषय विषके समान परमार्थसे मृत्यु प्राप्त करानेवाले हैं । मोहरूपी मदिराको पान करके जो पुरुष उन्मत्त न हो गया हो, उसे छोड़कर कौन ऐसा पुरुष होगा जो इन परमार्थके शत्रुओंसे सुहृद्-पनेकी आशा रखेगा ?

सभी साधु परम विरक्त थे, उन सबके गुरु आजन्म ब्रह्मचारी थे, इसलिये उन्होंने शिष्य भी ऐसे ही किये थे जिन्होंने जन्मसे ही संसारी सुख न भोगा हो। वे सभी स्त्रीसुखसे अनभिज्ञ थे। इसलिये उनके मनमें उस माताके दर्शनसे किसी प्रकारका विकार नहीं हुआ। उनमेंसे एकने पहले स्त्रीसुख भोगा था इसलिये उस माताके दर्शनसे उसकी छिपी हुई कामवासना जाग्रत हो उठी। वह विषयसुखकी इच्छा करने लगा।' इस कथाको कहकर वे कहते—'देखो, जिस बर्तनमें एक बार दही जम चुका है, उसमें दूधके फटनेका सन्देह ही बना रहता है, जो घड़ा कोरा है उसमें कोई भय नहीं। इसी प्रकार जो विषयसुखसे बचे हुए हैं वे कोरे घड़ेके समान हैं।' इसके उदाहरणमें वे अपने युवक भक्तोंमेंसे नरेन्द्र (विवेकानन्द) आदिका दृष्टान्त देकर कहते—'सर्वोत्तम तो यही है कि संसारी विषयोंसे एकदम दूर रहा जाय। विषय ही 'बन्धन' के हेतु हैं।' महाप्रभु चैतन्यदेव भी जिसे वासनाहीन अधिकारी समझते उसे संसारमें प्रवेश करनेको मना कर देते और आजन्म ब्रह्मचारी रहकर श्रीकृष्णकीर्तन करनेका ही उपदेश देते। विरक्त भक्तोंको तो वे स्त्रियोंसे तनिक भी संसर्ग न रखनेकी शिक्षा देते रहते। स्वयं वामी भी न तो स्त्रियोंकी ओर आँख उठाकर देखते और न उनके अङ्गका ही कभी स्पर्श करते।

०

एक दिनकी बात है कि आप टोटा यमेश्वरको जा रहे थे। उसी समय रास्तेमें एक देवदासी कन्या अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीतगोविन्दके पदको गाती जा रही थी! वसन्तका सुहावना समय था, नारीकण्ठकी मधुरिमासे मिश्रित उस त्रैलोक्यपावन पदको सुनते ही प्रभुका मनमयूर नृत्य करने लगा। उनके कानोंमें—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥*

—यह पदावली एक प्रकारकी मादकताका सञ्चार करने लगी ! अपने प्रियतमके ऐसे सुन्दर स्वरूपका वर्णन सुनते ही वे प्रेममें विह्वल हो गये और कानोंमें सुधाका सञ्चार करनेवाले उस व्यक्तिको आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े । प्रेमके उद्रेकमें वे स्त्री-पुरुषका भाव एकदम भूल गये । रास्तेमें काँटोंकी बाड़ लगी हुई थी, उसका भी ध्यान नहीं रहा । पैरमें काँटे चुभते जाते थे, किन्तु आप उनकी कुछ भी परवा न करके उस पदकी ही ओर लक्ष्य करके दौड़े जा रहे थे । पीछे आनेवाले गोविन्दने जोरोंसे दौड़कर और प्रभुको रोककर कहा—'प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं, देखते नहीं हैं यह तो स्त्री है ।'

'स्त्री है', इतना सुनते ही प्रभु सहम गये और वहीं गिरकर बड़े ही करुणस्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—'गोविन्द ! मैं तेरे इस उपकारके लिये सदा ऋणी रहूँगा, तूने आज मुझे स्त्री-स्पर्शरूपी पापसे बचाया । यदि सचमुच मैं भूलसे भी स्त्रीस्पर्श कर लेता तो समुद्रमें कूदकर आज ही अपने प्राणोंको गँवा देता ।'

---

* एक गोपी दूसरी सखीसे कह रही है—'सखि ! देख तो सही इन श्रीहरिकी कैसी अपूर्व शोभा है ! नील रंगके सुकोमल कलेवरपर सुगन्धित चन्दन लगा हुआ है, शरीरमें पीले वस्त्र पहने हैं । गलेमें मनोहर वनमाला पड़ी हुई है । रासक्रीडाके समय आनन्दमद मकरकुण्डल हिल-हिलकर कमनीय कपोलोंको अधिक शोभायुक्त बना रहे हैं और वे मन्द-मन्द मुसकाते हैं ।'

चै० च० अ० ५—८—

प्रभुकी ऐसी दीनतायुक्त बातें सुनकर गोविन्दने लज्जितभावसे कहा—'प्रभो ! आपकी रक्षा करनेवाला मैं कौन हूँ, जगन्नाथजीने ही आपकी रक्षा की है। मैं भला किस योग्य हूँ !'

महाप्रभु फिर आगे नहीं गये और लौटकर उन्होंने यह बात अपने सभी विरक्त भक्तोंके सम्मुख कही और गोविन्दकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तभी आपने गोविन्दसे कहा—'गोविन्द ! तुम सदा मेरे साथ ही रहा करो। मुझे अब शरीरका होश नहीं रहता। पता नहीं, किस समय मैं क्या अनर्थ कर बैठूँ।'

काशीवासी पण्डित तपन मिश्रको तो पाठक भूले ही न होंगे। उनके पुत्र रघुनाथ भट्टाचार्य प्रभुके अनन्य सेवक थे। प्रभु जब काशी पधारे थे तभी इन्होंने प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया था। प्रभुके पुरी आ जानेपर इनकी पुनः प्रभुके पादपद्मोंके दर्शनोंकी इच्छा हुई। अतः ये काशीजीसे गौड़ होते हुए नीलाचलकी ओर चल दिये। रास्तेमें इन्हें रामदास विश्वास नामक एक कायस्थ महाशय मिले। वे गौड़ेश्वरके दरबारमें मुनीम थे। रामानन्दी सम्प्रदायके थे, बड़े भारी पण्डित, विनयी और ब्रह्मण्य थे। वे भी जगन्नाथजीके दर्शनोंको जा रहे थे। रघुनाथजीको देखकर उन्होंने प्रणाम किया और इतने योग्य साथीको पाकर वे परम प्रसन्न हुए। उन्होंने रघुनाथजीकी पुटली जबरदस्ती ले ली तथा और भी उनकी विविध प्रकारसे सेवा करने लगे। रघुनाथजी इससे कुछ सङ्कुचित होते और कहते—'आप इतने बड़े पण्डित हैं, इतने भारी प्रतिष्ठित पुरुष हैं, आपको मेरी इस प्रकारकी सेवा करना शोभा नहीं देता।' वे विनीतभावसे उत्तर देते—'मैं नीच, अधम, छोटी जातिमें उत्पन्न होनेवाला भला आपकी सेवा कर ही क्या सकता हूँ ? फिर भी जो मुझसे हो सकती है, उससे आप मुझे वञ्चित न रखिये। साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा करना तो हमारा कर्तव्य है।

हम तो इनके दास हैं।' इस प्रकार दोनों ही बड़े आनन्दके साथ प्रेम-पूर्वक पुरी पहुँचे। पुरीमें प्रभुके स्थानका पता लगाकर रघुनाथजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिके सहित साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और इनका आलिङ्गन करके तपन मिश्र तथा चन्द्रशेखर आदि भक्तोंकी कुशल-क्षेम पूछने लगे। रघुनाथ-जीने सभीकी कुशल सुनायी और उनके प्रणाम भी निवेदन किये। प्रभुने उस दिन रघुनाथजीको अपने पास ही प्रसाद पवाया और उनके रहनेके लिये अपने ही स्थानमें एक सुन्दर-सा स्थान दिया। आठ महीनोंतक रघुनाथ भट्ट प्रभुके चरणोंके समीप रहे। भोजन बनानेमें तो वे बड़े ही प्रवीण थे। प्रभुको वे प्रायः अपने यहाँ भिक्षा कराया करते थे और उनके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानते। महाप्रभु इनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको बड़े ही आनन्दके साथ इनकी प्रशंसा करते हुए पाते थे। आठ महीनेके अनन्तर प्रभुने इन्हें आज्ञा दी—'देखो, तुम्हारे माता-पिता वृद्ध हैं, तुम्हीं उनकी एकमात्र सन्तान हो। उनकी स्वाभाविक इच्छा तुम्हें गृहस्थी बनानेकी होगी ही, किन्तु तुम गृहस्थीके झंझटमें कभी मत पड़ना। इसी प्रकार ब्रह्मचारी रहना और विवाह न करना। वृद्ध माता-पिताकी सेवा करना तो तुम्हारा कर्तव्य ही है, क्योंकि उनके दूसरा कोई पुत्र नहीं है। जब वे परलोकवासी हो जायँ तो तुम विरक्तभावसे वृन्दावनमें ही अपना समय बिताना। एक बार पुरी आकर मुझसे फिर मिल जाना।' इतना कहकर उन्होंने इन्हें विदा किया। वे भी [illegible] होकर प्रभुके वियोगमें रोते-रोते काशीजीको चले गये।

चार-पाँच वर्षमें इनके माता-पिता दोनों ही परलोकवासी हो गये। शास्त्रीय विधिके अनुसार उनका श्राद्ध-कर्म करके ये पुरी पधारे और प्रभुसे सभी बातें कहकर निवेदन कीं। प्रभुने इन्हें [illegible]

फिर अपने पास रखकर भक्तितत्त्वकी शिक्षा दी और अन्तमें इन्हें वृन्दावनमें रूप-सनातनके समीप रहनेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य करके ये वृन्दावनकी ओर चलनेके लिये तैयार हुए।

पुरीके सभी भक्तोंकी पदधूलि इन्होंने अपने मस्तकपर चढ़ायी। तब ये हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप खड़े हो गये। प्रभुने इन्हें बार-बार आलिङ्गन किया और जगन्नाथजीकी प्रसादी चौदह हाथ लंबी तुलसीकी माला और बिना कत्था-चूना लगा हुआ प्रसादी पान इन्हें दिया। महाप्रभुकी दी हुई उन दोनों प्रसादी वस्तुओंको इन्होंने श्रद्धापूर्वक गलेकपर चढ़ाया और दबडबायी आँखोंसे पृथिवीकी ओर देखते हुए चुपचाप खड़े रहे। प्रभु इन्हें उपदेश करने लगे—'देखो, श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिको त्यागकर कहीं अन्यत्र न जाना। वैराग्ययुक्त होकर निरन्तर श्रीमद्भागवतका पाठ किया करना। रूप-सनातन इन दोनोंको अपना बड़ा समझना। जो कोई शङ्का हुआ करे इन्हींसे पूछ लिया करना। निरन्तर नाम-जप करते रहोगे तो कृपालु श्रीकृष्ण कभी-न-कभी तो कृपा करेंगे ही। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें, तुम्हें शीघ्र ही कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो। अब जाओ, सभी वृन्दावनवासी भक्तोंको मेरा स्मरण दिलाना।' इस प्रकार महाप्रभुके शुभाशीर्वादको पाकर ये काशी, प्रयाग होते हुए श्रीवृन्दावनधाममें पहुँचे। यहाँ रूप और सनातन इन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा भारी सत्कार किया और अपने पास ही रखा। ये रूप गोस्वामीकी सत्संगसभामें श्रीमद्भागवतका पाठ किया करते थे। इनका गला बड़ा ही सुरीला था। भागवतके श्लोकोंको इतनी तानके साथ ये कहते कि सुननेवाले रोने लगते। एक ही श्लोकको कई प्रकारसे कहते। कहते-कहते स्वयं भी हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगते। इनका प्रेम अद्भुत था। वे सदा वृन्दावनविहारीके प्रेममें छके-से

रहते थे। हृदयमें श्रीगोविन्दजीका ध्यान था, जिह्वा सदा हरिरसका पान करती रहती थी। साधुओंका सत्संग और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना इससे बढ़कर संसारमें सुखकर जीवन और हो ही क्या सकता है? मनीषियोंने संसारकी सभी वस्तुओंको भयप्रद बताकर केवल एक वैराग्यको ही भयरहित माना है। ऐसा जीवन बिताना ही सर्वश्रेष्ठ वैराग्य है जैसा कि राजर्षि योगिराज भर्तृहरिने कहा है—

> भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
> स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
> संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
> वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

अर्थात् 'भवभयहारी भगवान्‌के पादपद्मोंमें प्रीति हो। इस शरीरको नाशवान् समझकर इसके प्रति अप्रीति हो; संसारी भाई, बन्धु तथा कुटुम्बियोंमें ममता न हो और हृदयमें कामजन्य वासनाका अभाव हो, कामिनीके कमनीय कलेवरको देखकर उसमें आसक्ति न होती हो। तथा संसारी लोगोंके संसर्गजन्य दोषसे रहित पवित्र और शान्त—निर्जन वनमें निवास हो तो इससे बढ़कर वाञ्छनीय वैराग्य और हो ही क्या सकता है?'

सचमुच जो स्त्रीसंसर्गसे रहित होकर एकान्तस्थानमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक वृन्दावनविहारीका ध्यान करता हुआ अपने समयको बिता रहा है, वह देवताओंका भी वन्दनीय है, उसकी पदधूलि इस समस्त पृथिवीको पावन बना देती है, वह नररूपमें साक्षात् नारायण है, शरीरधारी ब्रह्म है और वैकुण्ठपतिका परम प्रिय प्रधान पार्षद है।

गम्भीरा मन्दिरमें श्रीगौराङ्ग

प्रेमानामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिनमहामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरसचमत्कारमाधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

महाप्रभु गौराङ्गदेव चौबीस वर्षकी अल्पावस्थामें कठोर संन्यास-धर्मकी दीक्षा लेकर पुरी पधारे। पहले छः वर्षोंमें तो ये भारतवर्षके विविध तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे और सबसे अन्तमें आपने श्रीवृन्दावनधामकी यात्रा की। महाप्रभुकी यही अन्तिम यात्रा थी। वृन्दावनसे लौटकर अन्तके अठारहों वर्षोंतक आप अविच्छिन्नभावसे सचल जगन्नाथके रूपमें पुरी अथवा नीलाचलमें ही अवस्थित रहे। फिर आपने पुरीकी पावन पृथिवीका परित्याग करके कहींको भी पैर नहीं बढ़ाया। गौड़देशसे रथयात्राके समय प्रतिवर्ष बहुत-से भक्त आया करते थे और वे बरसातके चार महीनोंतक प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट रहकर अपने-अपने स्थानोंको चले आया करते थे। छः वर्षोंतक तो प्रभु उनके साथ उसी प्रकार क्रीड़ा, उत्सव और संकीर्तन करते रहे। अन्तमें आपका प्रेमोन्माद साधारण सीमाको उल्लङ्घन करके

---

* प्रेम नामक अद्भुत पदार्थ किसके कर्णगोचर हो सकता था? नामकी महिमाको कौन जान सकता था? वृन्दावनकी माधुरीमें किसका प्रवेश हो सकता था? उत्तम रस-शृंगारके चमत्कारपूर्ण माधुर्यकी सीमा—राधाको कौन जान पाता? एक श्रीचैतन्यचन्द्र महाप्रभुने अपनी स्वाभाविक परम करुणाके द्वारा इन सभी बातोंको पृथिवीपर प्रकट कर दिया।

पराकाष्ठातक पहुँच गया, उसमें फिर भला इस प्राकृतिक शरीरका बोध कहाँ, ये तो प्रकृतिके परेकी बात है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका वहाँ प्रवेश नहीं, यह सब तो त्रिगुणातीत विषय है। उसमें मिलना-जुलना, बातचीत करना, खाना-पीना तथा अन्यान्य कार्योंका सम्पादन करना हो ही नहीं सकता। शरीर रहते ही यन्त्रके समान इन कार्योंको आवश्यकतानुसार करता रहता है। चित्तसे इन कामोंका कोई सम्बन्ध नहीं, चित्त तो अविच्छिन्नभावसे उसी प्रियतमकी रूपमाधुरीका पान करता रहता है। महाप्रभुका चित्त भी बारह वर्षोंतक शरीरको छोड़कर वृन्दावनके किसी काले रंगके ग्वाल-बालकके साथ चला गया था। उनका चेतनशून्य शरीर पुरीमें काशी मिश्रके विशाल घरके एक निर्जन गम्भीरा मन्दिरमें पड़ा रहता था। इससे पूर्व कि हम महाप्रभुकी उस दिव्योन्मादकारी प्रेमावस्थाके सम्बन्धमें कुछ कहें, यह जान लेना आवश्यक है कि यह गम्भीरा मन्दिर वास्तवमें क्या है?

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके समीप ही उड़ीसाधिप महाराज प्रताप-रुद्रजीके कुलगुरु पण्डित काशी मिश्रजीके विशाल घरमें प्रभु निवास करते थे। मिश्रजीका वह भवन बहुत ही बड़ा था। अनुमानसे जाना जाता है कि उसमें तीन परकोटे रहे होंगे और सैकड़ों मनुष्य उसमें सुखपूर्वक रह सकते होंगे। तभी तो गौड़देशसे आये हुए प्रायः सभी भक्त चार महीनों-तक वहीं निवास करते थे। महाप्रभु उसी भवनमें रहते थे। अन्यान्य दूसरे मकानोंमें परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती, स्वरूपदामोदर, रघुनाथदास, जगदानन्द, वक्रेश्वर पण्डित तथा अन्यान्य विरक्त भक्त रहते थे। महाप्रभु स्वभावसे ही एकान्तप्रिय थे, उन्हें भीड़-भड़क्केमें विशेष रहना अरुचिकर था। उसी भवनमें एकान्तमें एक गुफाकी तरह छोटा-सा स्थान था, वह कोलाहल-शून्य, एकदम निभृत और नीरव मन्दिर था। महाप्रभु जब सबसे पृथक् होकर एकान्तकी इच्छा करते तब उस निभृत मन्दिरमें जाकर

विश्राम करते उसका दरवाजा इतना छोटा था कि एक आदमी ही उसमें संकोचके साथ घुस सकता था। महाप्रभु जब थक जाते या भीड़-भाड़में ऊब उठते तो उसमें जाकर सो जाते।

महाप्रभु जैसे भक्तवत्सल और कृपालु स्वामी थे उसी प्रकारका सच्चा स्वामिभक्त उन्हें गोविन्द नामक सेवक भी प्राप्त हुआ था। गोविन्दका महाप्रभुके प्रति वात्सल्यभाव था, वह निःस्वार्थ-भावसे बड़ी ही तत्परताके साथ प्रभुके शरीरकी खूब ही देखरेख रखता। एक दिन महाप्रभु संकीर्तनसे श्रान्त होकर गम्भीराके दरवाजे-पर पड़कर सो रहे। नियमानुसार गोविन्द आया और उसने कहा—'प्रभो! मैं शरीरकी मालिश करूँगा, मुझे भीतर जाने दीजिये।' प्रभु तो भावावेशमें बेहोश पड़े थे। उन्हें शरीर-मर्दनका क्या ध्यान! दो-चार बार प्रार्थना करनेपर आपने पड़े-ही-पड़े कह दिया—'आज नहीं, जाओ सो रहो।'

गोविन्दने विनीतभावसे कहा—'प्रभो! मेरा नित्यका नियम है, मुझे आज सेवासे वञ्चित न कीजिये।'

प्रभुने झुँझलाकर कहा—'नहीं, यह सब कुछ नहीं, शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझसे उठा नहीं जाता, जाकर सो रहो।'

गोविन्दने फिर अत्यन्त ही विनीतभावसे कहा—'प्रभो! थोड़े हट जायँ, बस मैं एक पैर देकर ही भीतर आ जाऊँगा, तुम्हें नींद न आवेगी।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भैया गोविन्द! मुझमें हिलनेकी भी सामर्थ्य नहीं।' सेवापरायण स्वामिभक्त सेवक क्या करता? सेवा करना उसका प्रधान कर्तव्य है। प्रभुको लाँघकर जाना पाप है, किन्तु उनकी सेवा न करना यह उससे भी अधिक पाप है। इसलिये यह सोचकर कि चाहे मुझे नरक ही क्यों न भोगना पड़े, मैं सेवासे

प्रमाद नहीं करूँगा ।' यह सोचकर वह प्रभुको लाँघकर ही चला गया और वहाँ जाकर उसने प्रभुकी चरणसेवा की तथा सम्पूर्ण शरीरको धीरे-धीरे दबाया। बहुत देर हो जानेपर प्रभुको चैतन्यता प्राप्त हुई। तब आपने गोविन्दको पास ही बैठा देखकर पूछा—'अरे गोविन्द! तू अभीतक बैठा ही है, सोने क्यों नहीं गया?'

उसने कहा—'प्रभो! सोने कैसे जाता, आप तो दरवाजेको घेरकर शयन कर रहे हैं।'

प्रभुने पूछा—'तब तू आया कैसे था?'

गोविन्दने कुछ लज्जितस्वरमें कहा—'प्रभो! मैं आपके श्रीअङ्गको लाँघ करके ही आया था, इसके लिये मुझे जितने दिनोंतक भी नरक भोगना पड़े उतने दिनोंतक सहर्ष नरक भोग सकता हूँ। आपके शरीरकी सेवाके निमित्त मैं सब कुछ कर सकता हूँ, किन्तु अपने सोनेके लिये मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता।' उसकी ऐसी निष्ठा देखकर प्रभुने उसे छातीसे लगाया और उसे श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया।

इस घटनासे भी जाना जाता है कि गम्भीरा मन्दिर बहुत ही छोटा होगा। पहले तो महाप्रभु यदा-कदा ही उसमें शयन करते रहे, ज्यों-ज्यों उनकी एकान्तनिष्ठा बढ़ती गयी और प्रेमोन्माद बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों वे गम्भीरा मन्दिरमें अपना अधिक समय बिताने लगे। अन्तके बारह वर्ष तो आपके गम्भीरा मन्दिरमें ही बीते। उस स्थानका नाम पहलेसे ही गम्भीरा था या प्रभुके गाम्भीरभावसे रहनेके कारण उसको लोग गम्भीरा कहने लगे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। अनुमान ऐसा ही लगाया जाता है, कि प्रभुके अन्तःपुरके समान उसमें आपने अन्तरङ्गभक्तोंके साथ रागमय ऐकान्तिक जीवन बितानेके ही कारण उस स्थानको भक्त 'गम्भीरा'-के नामसे पुकारने लगे होंगे। प्रभुने गम्भीरा मन्दिरमें रहकर जो बारह वर्ष बिताये और उस अवस्थामें जो

उन्होंने लीलाएँ कीं। उन्हें भक्त 'गम्भीरा लीला' के नामसे जानते और कहते हैं। गौड़ीय वैष्णवग्रन्थोंमें सर्वत्र 'गम्भीरा लीला' शब्दका व्यवहार मिलता है।

इन बारह वर्षोंमें प्रभुके शरीरमें जो-जो प्रेमके भाव उत्पन्न हुए, उनकी जैसी-जैसी अलौकिक दशाएँ हुईं वह किसी भी महापुरुषके शरीरमें प्रत्यक्ष रीतिसे प्रकट नहीं हुईं। उन्होंने प्रेमकी पराकाष्ठा करके दिखा दी, मधुर रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है, इसका उन्होंने साकार स्वरूप दिखला दिया। उन दिनों स्वरूपदामोदर और राय रामानन्द, ये ही प्रभुके उस भावके प्रधान ज्ञाता थे। महाप्रभु निरन्तर वियोगिनी श्रीराधिकाजीके भावमें भावान्वित रहते। स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्दजीको वे अपनी ललिता और विशाखा सखी समझते। बस, इन्हींके कारण उन्हें थोड़ी-बहुत शान्ति होती। वास्तवमें मधुर-भावके मर्मज्ञ ये दोनों महानुभाव ललिता और विशाखाकी भाँति प्रभुकी विरहवेदनाको कम करनेमें सब भाँतिसे उनकी सहायता करते और सदा प्रभुकी सेवा-शुश्रूषामें ही तत्पर रहते। स्वरूप गोस्वामीका गला बड़ा ही कोमल था। वे अपनी सुरीली तानसे मधुरभावके पद गा-गाकर प्रभुको सुनाया करते थे। महाप्रभुको श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका गोपीगीत श्रीजयदेवका गीतगोविन्द और चण्डीदास तथा विद्यापति ठाकुरके पद बहुत ही प्रिय थे। स्वरूप गोस्वामी अपने सुन्दर सुरीले स्वरसे इन्हीं सबको सुनाया करते थे। राय रामानन्दजी कृष्णकथा कहा करते थे, इसी प्रकार रसास्वादन करते-करते रात्रि बीत जाती और सूर्य उदय होनेपर पता चलता कि अब प्रातःकाल हो गया है। उस समय प्रभुकी जो भी दशा होती उसे स्वरूपदामोदरजी अपने 'कड़चा' में लिखते जाते थे। सचमुच उन्हीं महानुभावकी कृपासे तो आज संसार श्रीचैतन्यदेवके प्रेमकी अलौकिक दशाओंको समझ सका है, नहीं तो वे भाव प्रत्यक्ष-

रूपसे संसारमें अप्रकट ही बने रहते। ये भाव मानवीय भाषामें व्यक्त किये ही नहीं जाते। इन भावोंको व्यक्त करनेकी तो भाषा ही दूसरी है और उसका नाम 'मूकभाषा' है। कोई परम रसमर्मज्ञ लोकातीत भाववाला पुरुष यत्किञ्चित् उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये स्वरूपदामोदरजीने संसारके ऊपर उपकार करके उसका थोड़ा-बहुत वर्णन किया। वास्तवमें चैतन्यके भावोंको वे ही ठीक-ठीक वर्णन कर भी सकते थे। उस समय प्रभु सदा शरीरशून्य-से बने रहते। उनके अन्तरङ्ग भक्त ही उनके शरीरकी देख-रेख और सेवा-शुश्रूषा करते थे। उनमें गोविन्द, जगदानन्द, रघुनाथदास, स्वरूपदामोदर और राय रामानन्दजी—ये ही मुख्य थे। स्वरूप गोस्वामी जो कुछ लिखते थे उसे रघुनाथदासजी कण्ठस्थ करते जाते थे। इस प्रकार स्वरूपदामोदरजीका कड़चा रघुनाथदासजीके गलेका सर्वोत्तम हार बन गया। महाप्रभु और स्वरूपदामोदरजीके तिरोभावके अनन्तर रघुनाथदासजी पुरी छोड़कर श्रीवृन्दावनको चले गये और वहीं एकान्तमें वास करने लगे। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' के लेखक गोस्वामी कृष्णदास कविराज उनके परमप्रिय शिष्य थे, इसलिये 'स्वरूप गोस्वामीका कड़चा' उनसे कविराजजीको प्राप्त हुआ। कविराज महाशयने उसी कड़चाके आधारपर अपने परम प्रसिद्ध 'श्रीचैतन्यचरितामृत' नामक ग्रन्थके अन्तिम सात अध्याय लिखे हैं। इसलिये अब 'स्वरूपदामोदरजीका कड़चा' नामका कोई अलग ग्रन्थ तो मिलता नहीं। इन सात अध्यायोंको ही उसका सार समझना चाहिये। उन महापुरुषने उस अलौकिक दिव्य ग्रन्थका जनतामें क्यों नहीं प्रचार और प्रसार होने दिया, इसे तो वे ही जानें। हम पामर प्राणी भला इस सम्बन्धमें क्या समझ सकते हैं? संसारको उन्होंने इस इतने अधिक दिव्यरसका अनधिकारी समझा होगा। प्रायः देखनेमें भी आता है कि महापुरुष अपना सम्पूर्ण प्रेम किसीपर प्रकट नहीं करते। यदि

अर्थात् 'जो पुरुष प्रेमके विकारको वर्णन करनेका प्रयत्न करता है, उसका प्रयत्न उसी बौने (वामन) के समान है जो स्वयं छोटा होनेपर भी आकाशमें स्थित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है। जिस प्रकार अनन्त—अपार महासागरमेंसे वायु एक कणको उड़ा लाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेमार्णवपयका एक कण जीवोंको स्पर्श कर सकता है। क्षण-क्षणमें प्रेमकी अनन्त तरङ्गें उठती हैं, भला साधारण जीव उनका पार कैसे पा सकता है? श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जिस प्रेमरसका आस्वादन करते हैं उसे तो उनके परम प्रियगण श्रीस्वरूपदामोदर तथा रामानन्द राय आदि ही जान सकते हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने अपनेको भी प्रेमतत्त्वके वर्णन करनेका अनधिकारी साबित कर दिया है और आप उसीका समर्थन करते हुए स्पष्ट स्वीकार भी करते हैं।

लिख्यते श्रीलगौरेन्दोरत्यद्भुतमलौकिकम्।
यैर्दृष्टं तन्मुखाच्छ्रुत्वा दिव्योन्मादविचेष्टितम्॥
(श्रीचैतन्यच० १७। १)

अर्थात् 'श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी अत्यद्भुत अलौकिक दिव्योन्मादकारक चेष्टाओंको—जिन्होंने (श्रीरघुनाथदासजीने) अपनी आँखोंसे उन चेष्टाओंको प्रत्यक्ष देखा है, उन्हींके मुखसे सुनकर मैं लिखता हूँ।' इस बातसे तो अब सन्देहके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यदि कोई साधारण मनुष्य उनसे इस बातको कहता तो वे उसका विश्वास भी न करते, किन्तु जब साक्षात् रघुनाथजी ही उनसे कह रहे हैं जो कि निरन्तर बारह वर्षोंतक प्रभुके समीप ही रहे थे तब तो उन्हें भी विश्वास करना ही पड़ा, इस बातको वे स्वयं कहते हैं—

लोकातीत येइ येइ भाव हय,
इतर लोकेर ताते ना हय निश्चय।

रघुनाथदासेर सदा प्रभुके संगे स्थिति,
तार मुखे सुनि लिखि करिया प्रतीति ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी इन दिव्योन्मादकारी भावोंको यदि कोई इतर पुरुष कहता तो सम्भवतया निश्चय भी न होता, किन्तु सदा प्रभुके सङ्ग रहनेवाले रघुनाथजीने अपने मुखसे इन भावोंको मुझे बताया तब मैंने इन्हें अपने ग्रन्थमें लिख दिया । इसमें अब शङ्काके लिये स्थान ही नहीं ।' इस प्रकार स्थान-स्थानपर उन्होंने इन भावोंको अवर्णनीय बताया है और सात अध्यायोंमें बड़ी सुन्दरतासे वर्णन करके अन्तमें कह दिया है—

प्रभुर गंभीरा लीला ना पारि बूझिते ।
बुद्धि प्रवेश नाहि तासे ना पारि वर्णिते ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी गम्भीरा लीला कुछ जानी नहीं जा सकती बुद्धिका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं फिर वर्णन कैसे हो सकता है ?' जिस प्रेमोन्मादकारी लीलाको वर्णन करनेमें प्रेमके एकमात्र उपासक, गौर-कृपाके पूर्णपात्र तथा आयुभर वृन्दावनमें ही वास करके प्रेमकी साधना करनेवाले कविराज गोस्वामी अपनी वृद्धावस्थासे काँपती हुई लेखनीको ही असमर्थ बताते हैं तो हम कलयुगके छोकरे जिनका कि प्रेममार्ग-में प्रवेश तो क्या झुकाव भी नहीं हुआ है, ऐसे साधारण कोटिके जीव उसका वर्णन ही क्या कर सकते हैं ? हमारे लिये तो सबसे सरल उपाय यही है कि इस प्रसङ्गको छोड़ ही दें । किन्तु इस प्रसङ्गको छोड़ना उसी प्रकार होगा जिस प्रकार दूधको दुहकर, औटाकर, जमाकर और उसका दही बनाकर दिनभर मथते रहे और जब मक्खन निकलनेका समय आया तभी उसे छोड़ बैठे । महाप्रभुके जीवनका यही तो सार है, यहींपर तो प्रेमकी पराकाष्ठा होती है, यही तो उनका जीवोंके लिये अन्तिम उपदेश है, इसीको तो ध्रुव लक्ष्य बनाकर साधक आगे बढ़ सकते हैं । इसलिये

इसे छोड़ देना मानो इतने सब किये करायेको बिना सार समझे छोड़ देना है। इसलिये हम इसका अपनी क्षुद्र बुद्धिके अनुसार उन्हीं कविराज गोस्वामीके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए वर्णन करते हैं। अन्य स्थानोंमें तो हमने अपने स्वाभाविक स्वतन्त्रतासे काम लिया है, किन्तु इस विषयमें हम जहाँतक हो सकेगा, इन्हीं पूर्वपुरुषोंकी प्रणालीका ही अनुकरण करेंगे। अक्षरोंका अनुवाद कर देना तो हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल है, इसीके लिये तो हम मजबूर हैं किन्तु वैसे भी क्यों न करें इन्हीं महानुभावोंके आश्रयसे इस दुर्गम पथको पार कर सकेंगे। इसलिये श्रीचैतन्यदेवके दिव्योन्मादके वर्णन करनेके पूर्व अति संक्षेपमें हम पाठकोंको यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि वे प्रेमके भाव, महाभाव तथा विरहकी दशा कितनी होती हैं और इनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषयपर मधुररतिके उपासक वैष्णवोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और विस्तारके साथ इन सभी विषयोंका विशदरूपसे वर्णन किया गया है, उन सबको यहाँ बतानेके लिये न तो इतना स्थान ही है और न हममें इतनी योग्यता ही है। हम तो विषयको समझनेके लिये बहुत ही संक्षेपमें इन बातोंका दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं जिससे पाठकोंको महाप्रभुकी प्रेमोन्मादकारी दशाको समझनेमें सुगमता हो। वैसे इन दशाओंको समझकर कोई प्रेमी थोड़े ही बन सकता है, जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है उसकी दशा अपने-आप ही ऐसी हो जाती है। पिङ्गल पढ़कर कोई कवि नहीं बन सकता। स्वाभाविक कविकी कविता अपने-आप ही पिङ्गलके अनुसार बन जाती है। इसलिये इन बातोंका वर्णन प्रेम प्राप्त करनेके निमित्त नहीं, किन्तु प्रेमकी दशा समझनेके लिये करते हैं।

और उनके मर्मोंमें घेरेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'राग', 'प्रेम', अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन और वियोग या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुरुषकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारागारके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

प्रेमकी अवस्थाओंका संक्षिप्त परिचय

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥*

लोकमर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

अर्थात् 'गोपियोंके शुद्धप्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है।' इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है। क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीरसुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्धप्रेम इन्द्रिय

---

* मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं, कदाचित् किसीको हो भी जाय तो उसे प्रेमका साररूप विरह प्राप्त नहीं होता। यदि विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता। श्रीरूप गोस्वामी भी कहते हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अर्थात् 'जबतक भुक्ति और मुक्तिकी इच्छारूपिणी पिशाची हृदयमें बैठी हुई है तबतक वहाँ भक्तिसुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?'

और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं— पूर्वराग, मिलन और बिछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुरुषकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारागारके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो। जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित खण्डमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें आठ सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

उन्होंने स्वयं कहा है—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।' अर्थात् 'मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं।'

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—बिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके अश्रु गरम होते हैं और वे बीचमें ही बहते हैं।

स्वरभङ्ग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके उसे 'स्वर-भेद', 'गद्गद' या 'स्वरभङ्ग' कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है, आकृतिका बदल जाना।

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे 'पुलक' या 'रोमाञ्च' कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी हो जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथिवीपर गिर पड़ते हैं। बेहोश होकर धड़ामसे पृथिवीपर गिर पड़नेका नाम 'प्रलय' है।

ये उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु प्रेमके वशमें ही ये प्रशंसनीय हैं।

पीछे हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

> हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
> हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
> हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
> हा! हा!! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे? ॥*

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलनसुखको तो दो ही एक होकर जान सकते हैं। वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे! अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस

* हे देव! हे दयालो! हे विश्वके एकमात्र बन्धु! ओ काले! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश! तुम कब इन्हें दर्शन दोगे?

विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसङ्गवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन सुखको तो वे दोनों ही जानते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

> ए री ! आज काल्हि सब लोकलाज त्यागि दोऊ,
> सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
> यह 'रसखान' दिन द्वैमें बात फैलि जैहै,
> कहाँ लौं सयानी ! चंद हाथन छिपायबो ॥
> आज हौं निहार्‌यो बीर, निकट कालिंदी-तीर,
> दोउनको दोउनसौं मुख मुसकायबो।
> दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ, उन्हें,
> भूलि गईं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो ॥

कैसा सजीव वर्णन है! यह भी कालिन्दी-कूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

> 'दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैं
> भूलि गईं गैयाँ, इन्

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको !

विरह—इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरेसे श्रेष्ठ है। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है, प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

> बिरहा बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
> जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

अब विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्य विरह, वर्तमान विरह और भूत विरह। इनमें भी परस्पर उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान विरह। भूत विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही जो कलेजेमें एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी विरह' है। इसका उदय नायिकाके ही हृदयमें उत्पन्न होता हो, सो बात नहीं है। अपने प्यारेके बिछोहमें सभीके हृदयमें यह विरह-वेदना उत्पन्न हो सकती है।

जिस कन्याको आज पंद्रह-बीस वर्षोंसे पुत्रीकी तरह लाड़-प्यार किया था, वही शकुन्तला आश्रम त्यागकर अपने पतिके घर जायगी, इस बातके स्मरणसे ही शकुन्तलाके धर्मपिता भगवान् कण्व मुनिका कलेजा काँपने लगा। हाय! अब शकुन्तला फिर देखनेको न मिलेगी? इस विचारसे वे शोकयुक्त हुए बैठे हैं। वे कैसे भी सहृदय क्यों न थे, किन्तु थे तो ज्ञानोपासक। चिन्तामें एकदम रागमार्गीय गोपिकाओंकी भाँति अपनेको भूल नहीं गये। वे उस अन्तःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पर विचार करते-करते कहने लगे। ऋषिके इन वाक्योंमें कितनी करुणा-

है, कैसी वेदना है, पुत्री-विरहका वह संस्कृतभाषामें सर्वोत्कृष्ट श्लोक कहा जा सकता है। ऋषि सोच रहे हैं—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'शकुन्तला आज चली जायगी' इस विचारके आते ही मेरे हृदयमें एक प्रकारकी कँपकँपी-सी हो रही है, एक प्रकारकी विचित्र उत्कण्ठा-सी प्रतीत होती है। गला अपने-आप रुद्ध-सा हो रहा है, अश्रु स्वतः ही निकले पड़ते हैं, एक प्रकारकी जड़ताका अनुभव कर रहा हूँ। न जाने क्यों दिलमें घबड़ाहट-सी हो रही है। जब वनवासी वीतराग मुझ मुनिकी ही ऐसी दशा है, तो गृहस्थाश्रमके मोहमें फँसे हुए गृहस्थियोंकी तो पुत्री-वियोगके समय न जाने क्या दशा होती होगी ?'

इन वाक्योंमें भगवान् कण्वकी छिपी हुई भारी वेदना है। वे अपने भारी ज्ञानके प्रभावसे उसे छिपाना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरागमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी विरह-वेदना हुई वह तो कुछ वस्तु ही दूसरी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कट है, किन्तु राधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी कर्तव्यविमूढ़िनी-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापको मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरके शब्दोंमें सुनिये। अहा! कितना बढ़िया वर्णन है। राधिकाजी कह रही हैं—

> कि करिब, कोथा याब, सोयाथ ना हय।
> ना याय कठिन प्राण किबा लागि रय॥

पियार लागिआ हाम कोन देशे याब।
रजनी प्रभात हैले कार मुख चाब॥
बन्धु याबे दूर देशे मरिब आमि शोके।
सागरे त्यजिब प्राण नाहि देखे लोके॥
नहेत पियार गलार माला ये करिया।
देशे देशे भरमिब योगिनी हइया॥
विद्यापति कवि इह दुःख गान।
राजा शिवसिंह लछिमा परमान॥

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ, रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमलमुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी। कवि विद्यापति इस दुःखपूर्ण गानको गाता है, इसमें लक्षिमा और राजा शिवसिंह प्रमाण हैं।' यह भावी विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है, सीनेमें कोई मानो खाय ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही 'वर्तमान विरह' कहते हैं।

शकुन्तला अपने धर्मपिता भगवान् कण्वके पैर छूकर और प्रियंवदा आदि सखियोंसे मिल-जुलकर पासकी कुटियामेंसे धीरे-धीरे

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे [illegible] सहारेसे खड़ी हो गयी है । [illegible] शिष्यवर्ग नीचेको सिर [illegible] ऊपर खड़े हैं । शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, [illegible] [illegible] पक्षोंकी पुतलियोंको बगलमें दाबे एक ओर खड़ी हैं । भगवान् कण्वका कलेजा फटा-सा जा रहा है, मानो उसे [illegible] रहा हो । इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको किस पर प्रकट करें । जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी [illegible] कैसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं । इस भयसे वे और किसीसे न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

> पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
> आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

है, लोकलाजकी परवा की है। 'प्रेममें नेम कहाँ ?' वहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और वाक्चातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं। गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

> एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
> व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
> विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
> गोविन्द दामोदर माधवेति॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन् ! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द ! हा माधव !! हा दामोदर !!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी ...का नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण ... मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका ... क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके ...है, किन्तु पता नहीं यह आशा कब पूरी

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे एक पेड़के सहारेसे खड़ी हो गयी है। सभी शिष्यवर्ग शोकसे सिर नीचा किये इधर उधर खड़े हैं। शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, साथ जानेवाले शिष्य वल्कल वस्त्रोंकी पुटलियोंको बगलमें दाबे एक ओर खड़े हैं। भगवान् कण्वका कलेजा कटा-सा जा रहा है, मानो उसे बलात् कोई खींच रहा हो। इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको किसपर प्रकट करें। जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी महर्षि ये कैसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं। इस भयसे वे और किसी-से न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

> पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
> आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

'वृक्षो! यह शकुन्तला अपने पतिके घर जा रही है। देखो, तुम्हारे प्रति तो इसका अत्यन्त ही स्नेह था। जबतक यह तुम्हें पानी नहीं पिला लेती थी तबतक स्वयं भी पानी नहीं पीती थी। इसे गहने पहिननेका यद्यपि बड़ा भारी शौक था, फिर भी यह तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे पत्तोंको नहीं तोड़ती थी। वसन्तमें जब तुमपर नये-ही नये फूल आते थे तब यह उस खुशीमें बड़ा भारी उत्सव मनाती थी। हाय! वही इन सब लोगोंकी रक्षा करनेवाली शकुन्तला अब जा रही है, तुम सब मिलकर इसे आज्ञा दो।'

महर्षिके एक-एक शब्दमें करुणा फूट-फूटकर निकल रही है। मूक वृक्षोंके प्रति अपनी वेदना प्रकट करके ऋषिने उसे और भी अधिक हृदयग्राही बना दिया है। किन्तु इसमें भावको छिपानेकी चेष्टा की गयी

है, लोकलाजकी परवा की है ! 'प्रेममें नेम कहाँ ?' वहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और धाकुलातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं ! गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

> एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
> व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
> विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
> गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन् ! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द ! हा माधव !! हा दामोदर !!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी द्विविधाका नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या ? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी

होगी । पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं । बस, प्यारेके एक ही बार, दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हों, दर्शन हो जायँ । बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है । उस समय उसकी दशा विचित्र होती है । साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं । वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता ।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश ॥
(उज्ज्वलनीलमणि शृं० ६४)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं ।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये ।

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है । मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे । ब्रजभाषागगनके परम प्रकाशमान 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिन रह्यो मनमें ठौर ।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ॥
स्याम गात सरोज आनन ललित-गति मृदु-हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन-प्यास ॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ ! नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती । इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है ।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है। यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ? राधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

> याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
> अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥
>
> (पद्यावली)

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मधुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' धन्य है, निद्रा आवे कहाँ? आँखोंमें तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं?

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचलजन्य बेकली-सी होती है उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

> ब्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
> कोउ तौ नेकु दया उर लाओ।
> प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
> पानिय पीकौ पपीहैं पिआओ॥
> जीयमें हौंस कहूँ रहि जाय न,
> हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
> आवै न आवै पिआरो अरे!
> कोउ हाल तौ जाइकै मेरी सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न! भला, कोई आकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये।

कृशता—प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात्रि चिन्ता करनेके कारण जो शरीर दुबला हो जाता है उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर ऊधोजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और वहाँ ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यौ, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुंदरि, गमन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनौं, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसैं, जियहि आसा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्रको खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी राधाकी 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उद्वेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही

बताया है। राधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्युतुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है ?

मलिनाङ्गता—शरीरकी सुधि न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गंदे हो जाते हैं इसे ही 'मलिनता' या मलिनाङ्गता कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं उनका नाम प्रलाप है। सीताजीकी खोजमें लक्ष्मणजीके साथ रामचन्द्रजी वनोंमें फिर रहे हैं। हृदयमें भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, वे चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया ! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही ?'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान् ?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघुमहाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा तुम कौन हो ?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन् ! हे दयालो ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जंगलोंमें क्यों घूम रहे हैं ?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम देवीकी खोज कर रहे हैं।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी ?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते ! हा जानकि ! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्छित हो जाते हैं। इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणसे जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं। विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

> उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
> दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
> तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
> मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥
>
> (ललितमाधवनाटक)

ऐ सखी ! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेदज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथिवीपर जितने जहर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा

तीव्र विसूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है। प्यारी सखी! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरहव्याधि' ।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

> भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
> प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
> लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
> विषमविषमखेदोद्गारविभ्रान्तचित्ता ॥

अर्थात् 'हे कृष्ण! राधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिल-खिलाकर हँसने लगती है। चेतनावस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें ही लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने ही लगती है, हे मुरारे! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरहखेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।'

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी उन्मादिनीका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

मूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी, रहति कछु नाहीं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई-सी, कछु मोदक-सो खायो सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिसभरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूछेते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है उसे मोह कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिश्चन्द्रजी ही यहीं खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी-सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचंद' रावरे विरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आयो प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती, ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण

प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। मोहकी दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा?

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिनरातिके दुःखसे बचे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना' इसका दृष्टान्त लीजिये। बंगलाभाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर वाणीमें ही मजवालियोंकी इस दसवीं दशाका दर्शन कीजिये—

माधव ! तुहु अब निरदय भेल।
मिलई अवधि दिन, गणि कत राखब ब्रजवधू-जीवन-सोल ॥१॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल कोइ कोइ लुटइ निकुंज ॥२॥
एतदिन विरहे, मरणपथ पेखलु सोहे तिरियब पुनपुंज ॥३॥
तपत सरोवर, थोरि सलिले जनु आकुल सफरी परान ॥४॥
जीवन मरन, मरण वर जीवन 'गोविंददास' दुख जान ॥५॥

दूती कह रही है—"प्यारे माधव ! भला यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये ? दुनियाभरके झूठे ? कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार अलमुळ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहेंगे। अब तुम्हें उनकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ। वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लंबी-लंबी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ रात्रि-दिनको बिता रही हैं, तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके

बचना पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उसी मछलीकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हो और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं उसी प्रकार वे तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो।'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और फिर मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान (प्रतिक्षणवर्द्धमान) प्रवर्द्धनशील कहा गया है। अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके सन्निकट पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़ महाभाव' और 'अधिरूढ़ महाभाव' दो भेद बताये गये हैं। अधिरूढ़ महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्‌घूर्णा, चित्रजल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥*
>
> (श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो क्रियाएँ साथ दी हैं। इससे खूब जोरोंसे डाढ़ मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। 'रु' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द अपने-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह तो 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, अब दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा! वह अनुभव-गम्य विषय है। श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें वह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशा बतायी हैं—(१) भावोदय, (२) भावसन्धि, (३) भावशावल्य और (४) भावशान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव

* श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है ऐसा पुरुष अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनसे उनमें अनुरक्त एवं विह्वलचित्त होकर संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ कभी तो जोर-जोरसे हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी पागलके समान नाचने लगता है।

हृदयमें उदित हो गया । दो विरोधी भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाको 'भावसन्धि' कहते हैं । जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है । बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशाबल्य कहते हैं । जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा पुत्रको प्यार करनेवाली उसके पुत्रहीना मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्राप्त करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ । इसी प्रकार किसी वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं । जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण गोपियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया ।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं । इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है ।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय । दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब सभी बेड़ा पार हो जाय । एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महाभाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी । पानीकी इच्छा होनी चाहिये । ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट अपने आप ही

हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाको 'भावसन्धि' कहते हैं। जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटने-पर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशाबल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका सुनना, पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके लिये प्रयत्न करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ। इसी प्रकार किसी इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको फिरसे मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं। इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय। दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब सभी बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महा-भाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट

महाप्रभुका दिव्योन्माद

सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम्।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही आकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरता के बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और करुणस्वरसे हा! हा! शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

गये। अठारह वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौरभक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुडस्तम्भके समीप जगमोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था। महाप्रभु दर्शन करते-करते इतना रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोते। उन्मादावस्थामें भी उनका श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्णभावसे चलता रहा। वैष्णव भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके वे सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। महाप्रभुके उन दिव्यभावोंका वृत्तान्त पाठक अगले प्रकरणोंमें पढ़ेंगे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं
बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिशोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

महाप्रभुका दिव्योन्माद

> सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
> मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम् ।
> उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
> गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*
>
> (श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही जाकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरङ्ग-के बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और, करुणस्वरसे 'हा! हा!' शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

जाते हैं, इसलिये अन्तके बारह वर्षोंमें प्रभु अपनेको राधा मानकर ही श्रीकृष्णके विरहमें तड़पते रहे। कविराज गोस्वामी कहते हैं—

> राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान।
> सेइ भावे आपनाके हय 'राधा' ज्ञान॥
> दिव्योन्माद ऐछे हय, कि इहा विस्मय?
> अधिरूढ भावे दिव्योन्माद-प्रलाप हय॥

अर्थात् 'महाप्रभु राधाभावमें भावान्वित होकर उसी भावसे सदा अपनेको 'राधा' ही समझते थे। यदि फिर उनके शरीरमें, 'दिव्योन्माद' प्रकट होता था तो इसमें विस्मय करनेकी ही कौन-सी बात है। अधिरूढ़ भावमें दिव्योन्माद प्रलाप होता ही है।' इसलिये अब आपकी सभी क्रियाएँ उसी विरहिणीकी भाँति होती थीं।

एक दिन स्वप्नमें आप रासलीला देखने लगे। अहा! प्यारेको बहुत दिनोंके पश्चात् आज वृन्दावनमें देखा है। वही सुन्दर अलकावली, वही माधुरी मुसकान, वे ही हाव-भाव-कटाक्ष, उसी प्रकार रासमें थिरकना, सखियोंको गले लगाना, कैसा सुख है! कितना आनन्द है!! ताथेई-ताथेई करके सखियोंके बीचमें श्याम नाच रहे हैं और सैनोंको चलाते हुए बंशी बजा रहे हैं। महाप्रभु भूल गये कि यह स्वप्न है या जागृति है। वे तो उस रसमें सराबोर थे। गोविन्दको आश्चर्य हुआ कि 'प्रभु आज इतनी देरतक क्यों सो रहे हैं, रोज तो अरुणोदयमें ही उठ जाते थे, आज तो बहुत दिन भी चढ़ गया है। सम्भव है, नाराज हों, इसलिये जगा दूँ।' यह सोचकर गोविन्द धीरे-धीरे प्रभुके तलवोंको दबाने लगा। प्रभु चौंककर उठ पड़े और 'कृष्ण कहाँ गये?' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। गोविन्दने कहा—'प्रभो! दर्शनोंका समय हो गया है, नित्यकर्मसे निवृत्त होकर दर्शनोंको चलिये।' इतना

सुनते ही उसी भावमें यन्त्रकी तरह शरीरके स्वभावानुसार नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको गये।

महाप्रभु गरुडस्तम्भके सहारे घंटों खड़े-खड़े दर्शन करते रहते थे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे जितनी देरतक वे दर्शन करते रहते थे उतनी देरतक जलकी दो धाराएँ बहती रहती थीं। आज प्रभुने जगन्नाथजीके सिंहासनपर उसी मुरलीमनोहरके दर्शन किये। वे उसी प्रकार मुरली बजा-बजाकर प्रभुकी ओर मन्द-मन्द मुसकान कर रहे थे, प्रभु अनिमेष-भावसे उनकी रूपमाधुरीका पान कर रहे थे। इतनेमें ही एक उड़ीसा-प्रान्तकी वृद्धा माई जगन्नाथजीके दर्शन न पानेसे गरुडस्तम्भपर चढ़कर और प्रभुके कन्धेपर पैर रखकर दर्शन करने लगी। पीछे खड़े हुए गोविन्दने उसे ऐसा करनेसे निषेध किया। इसपर प्रभुने कहा—'यह आदिशक्ति महामाया है, इसके दर्शनसुखमें विघ्न मत डालो, इसे यथेष्ट दर्शन करने दो।'

गोविन्दके कहनेपर वह वृद्धा माता जल्दीसे उतरकर प्रभुके पादपद्मों-में पड़कर पुनः-पुनः प्रणाम करती हुई अपने अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगी। प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'मातेश्वरी! जगन्नाथ-जीके दर्शनोंके लिये तुम्हें जैसी विकलता है ऐसी विकलता जगन्नाथजी-ने मुझे नहीं दी। हा! मेरे जीवनको धिक्कार है। जननी! तुम्हारी ऐसी एकाग्रताको कोटि-कोटि धन्यवाद है। तुमने मेरे कन्धेपर पैर रखा और तुम्हें इसका पता भी नहीं।' इतना कहते-कहते प्रभु फिर रुदन करने लगे। 'भावसन्धि' हो जानेसे स्वप्नका भाव जाता रहा और अब जगन्नाथजीके सिंहासनपर उन्हें सुभद्रा बलरामसहित जगन्नाथजीके दर्शन होने लगे। इससे महाप्रभुको कुरुक्षेत्रका भाव उदित हुआ, जब ग्रहणके स्नानके समय श्रीकृष्णजी अपने परिवारके सहित गोपिकाओं-को मिले थे। इससे खिन्न होकर प्रभु अपने वासस्थानपर लौट आये।

अब उनकी दशा परम कातर विरहिणीकी-सी हो गयी। वे उदास मनसे नखोंसे भूमिको कुरेदते हुए विषण्णवदन होकर अश्रु बहाने लगे और अपनेको बार-बार धिक्कारने लगे। इसी प्रकार दिन बीता, शाम हुई, अँधेरा छा गया और रात्रि हो गयी। प्रभुके भावमें कोई परिवर्तन नहीं। वही उन्माद, वही बेकली, वही विरह-वेदना उन्हें रह-रहकर व्यथित करने लगी। राय रामानन्द आये, स्वरूप गोस्वामीने सुन्दर-सुन्दर पद सुनाये, राय महाशयने कथा कही। कुछ भी धीरज न बँधा। 'हाय! श्याम! तुम किधर गये? मुझ दुःखिनी अबलाको मँझधारमें ही छोड़ गये। हाय! मेरे भाग्यको धिक्कार है, जो अपने प्राणवल्लभको पाकर भी मैंने फिर गँवा दिया। अब कहाँ जाऊँ? कैसे करूँ? किससे कहूँ, कोई सुननेवाला भी तो नहीं। हाय! ललिते! तू ही कुछ उपाय बता। ओ बहिन विशाखे! अरी, तू ही मुझे धीरज बँधा। मैया! मर जाऊँगी। प्यारेके बिना मैं प्राण धारण नहीं कर सकती। जोगिन बन जाऊँगी। घर-घर अलख जगाऊँगी, नरसिंहा लेकर बजाऊँगी, तनमें भभूत रमाऊँगी, मैं मारी-मारी फिरूँगी, किसीकी भी न सुनूँगी। या तो प्यारेके साथ जीऊँगी या आत्मघात करके मरूँगी! हाय! निर्दयी! ओ निष्ठुर श्याम! तुम कहाँ चले गये?'

बस, इसी प्रकार प्रलाप करने लगे। रामानन्दजी आधी रात्रि होनेपर गम्भीरा मन्दिरमें प्रभुको सुलाकर चले गये। स्वरूप गोस्वामी वहीं गोविन्दके समीप ही पड़ रहे। महाप्रभु जोरोंसे बड़े ही करुणस्वरमें भगवान्‌के इन नामोंका उच्चारण कर रहे थे—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

इन नामोंकी सुमधुर गूँज गोविन्द और स्वरूप गोस्वामीके कानोंमें भर गयी। वे इन नामोंको सुनते-सुनते ही सो गये। किन्तु प्रभुकी आँखोंमें नींद कहाँ, उनकी तो प्रायः सभी रातें हा नाथ! हा प्यारे! करते-करते

ही बीतती थीं। थोड़ी देरमें स्वरूप गोस्वामीकी आँखें खुलीं तो उन्हें प्रभुका शब्द सुनायी नहीं दिया। सन्देह होनेसे वे उठे, गम्भीरामें जाकर देखा, प्रभु नहीं हैं। मानो उनके हृदयमें किसीने वज्र मार दिया हो। अस्त-व्यस्तभावसे उन्होंने दीपक जलाया। गोविन्दको जगाया। दोनों ही उस विशाल भवनके कोने-कोनेमें खोज करने लगे, किन्तु प्रभुका कहीं पता ही नहीं। सभी घबड़ाये से इधर-उधर भागने लगे। गोविन्दके साथ वे सीधे मन्दिरकी ओर गये, वहाँ जाकर क्या देखते हैं, सिंहद्वारके समीप एक मैले स्थानमें प्रभु पड़े हैं। उनकी आकृति विचित्र हो गयी थी। उनका शरीर खूब लंबा पड़ा था। हाथ पैर तथा सभी स्थानोंकी सन्धियाँ बिलकुल खुल गयी थीं। मानो किसीने टूटी हड्डियाँ लेकर चमड़ेके खोलमें भर दी हों। शरीर अस्त-व्यस्त पड़ा था। श्वास-प्रश्वासकी गति एकदम बंद थी। कविराज गोस्वामीने वर्णन किया है—

प्रभु पड़ि आछेन दीर्घ हात पाँच छय।
अचेतन देह नासाय श्वास नाहि वय॥
एक-एक हस्त-पाद-दीर्घ तिन हात।
अस्थि, ग्रंथिभिन्न, चर्म आछे मात्र तात॥
हस्त, पाद, ग्रीवा, कटि, अस्थि-संधि यत।
एक-एक वितस्ति भिन्न हय्या छे तत॥
चर्ममात्र उपरे, संधि आछे दीर्घ हय्या।
दुःखित हैला सबे प्रभुरे देखिया॥
मुखे लाला-फेन प्रभुर उत्तान-नयन।
देखिया सकल भक्तेर देह छाड़े प्राण॥*

* प्रभु पाँच-छः हाथ लंबे पड़े हुए थे, देह अचेतन थी, नासिकासे श्वास नहीं चल रहा था, एक-एक हाथ-पैर तीन-तीन हाथ लंबे हो गये थे,

अर्थ स्पष्ट है, भक्तोंने समझा प्रभुके प्राण शरीर छोड़कर चले गये। तब स्वरूप गोस्वामीने जोरोंसे प्रभुके कानोंमें कृष्णनामकी ध्वनि की। उस सुमधुर और कर्णप्रिय ध्वनिको सुनकर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान-सा होने लगा। वे एक साथ ही चौंककर 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहते हुए उठ बैठे। प्रभुके उठनेपर धीरे-धीरे अस्थियोंकी सन्धियाँ अपने आप जुड़ने लगीं।

श्रीगोस्वामी रघुनाथदासजी वहीं थे, उन्होंने अपनी आँखोंसे प्रभुकी यह दशा देखी होगी। उन्होंने अपने 'चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष' नामक ग्रन्थमें इस घटनाका यों वर्णन किया है—

> क्वचिन्मिश्रावासे व्रजपतिसुतस्योरुविरहात्
> श्लथच्छ्रीसन्धित्वाद्दधदधिकदैर्घ्यं भुजपदोः।
> लुठन् भूमौ काक्वा विकलविकलं गद्गदवचा
> रुदन्श्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥

किसी समय काशी मिश्रके भवनमें श्रीकृष्णविरह उत्पन्न होनेपर प्रभुकी सन्धियाँ ढीली पड़ जानेसे हाथ-पैर लंबे हो गये थे। पृथिवीपर काकुस्वरसे, गद्गद वचनोंसे जोरोंके साथ रुदन करते-करते लोटपोट होने लगे, वे ही श्रीगौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमें मतवाला बना रहे हैं। उन हृदयमें उदित होकर मतवाले बनानेवाले श्रीगौराङ्गके और मदमत्त बने श्रीरघुनाथदासजीके चरणोंमें हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम है।

हड्डियोंकी सभी सन्धियाँ अलग-अलग हो गयी थीं, केवल ऊपर चर्म-ही- नर्म चढ़ा हुआ था। हाथ, पैर, ग्रीवा और कटि हड्डियोंके ओर एक-एक विलम्बित अलग-अलग हो गये थे। ऊपर चर्ममात्र था, सन्धि लंबी हो गयी थी। महाप्रभुको ऐसी दशा देखकर सभी भक्त दुःखी हो गये। उनके मुखसे लार और फेन बह रहा था, नेत्र [illegible] ऐसी दशा देखकर भक्तोंके प्राण शरीरको परित्याग [illegible] लगे। [illegible]

गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-
दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृतो
गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥*

(चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी अब प्रायः तीन दशाएँ देखी जाती थीं—अन्तर्दशा, अर्धबाह्यदशा और बाह्यदशा। अन्तर्दशामें वे गोपीभावसे या राधा-भावसे श्रीकृष्णके विरहमें, जिसमें भाँति-भाँतिके प्रलाप किया करते थे। अर्धबाह्यदशामें अपनेको कुछ-कुछ समझने लगते और अब थोड़ी देर पहले जो देख रहे थे, उसे ही अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको सुनाते थे और उस भावके बदलनेके कारण पश्चात्ताप प्रकट करते हुए रुदन भी करते

---

* श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं—नीलाचलके निकट समुद्रकी बालुकाके चटकपर्वतको देखकर गोवर्धनके भ्रमसे 'मैं गिरिराज गोवर्धनके दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर महाप्रभु उस ओर दौड़ने लगे। अपने सभी विरक्त वैष्णवों-से वेष्टित वही गौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें पागल बना रहे हैं।

अर्थ स्पष्ट है, भक्तोंने समझा प्रभुके प्राण शरीर छोड़कर चले गये। तब स्वरूप गोस्वामीने जोरोंसे प्रभुके कानोंमें कृष्णनामकी ध्वनि की। उस सुमधुर और कर्णप्रिय ध्वनिको सुनकर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान-सा होने लगा। वे एक साथ ही चौंककर 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहते हुए उठ बैठे। प्रभुके उठनेपर धीरे-धीरे अस्थियोंकी सन्धियाँ अपने आप जुड़ने लगीं।

श्रीगोस्वामी रघुनाथदासजी वहीं थे, उन्होंने अपनी आँखोंसे प्रभुकी यह दशा देखी होगी। उन्होंने अपने 'चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष' नामक ग्रन्थमें इस घटनाका यों वर्णन किया है—

> क्वचिन्मिश्रावासे व्रजपतिसुतस्योरुविरहा-
> च्छ्लथच्छ्रीसन्धित्वाद्दधदधिकदैर्घ्यं भुजपदोः।
> लुठन् भूमौ काक्वा विकलविकलं गद्गदवचा
> रुदन् श्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥

किसी समय काशी मिश्रके भवनमें श्रीकृष्णविरह उत्पन्न होनेपर प्रभुकी सन्धियाँ ढीली पड़ जानेसे हाथ-पैर लंबे हो गये थे। पृथिवीपर काकुस्वरसे, गद्गद वचनोंसे जोरोंके साथ रुदन करते-करते लोट-पोट होने लगे, वे ही श्रीगौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमें मतवाला बना रहे हैं। उन हृदयमें उदित होकर मतवाले बनानेवाले श्रीगौराङ्गके और मदमत्त बने श्रीरघुनाथदासजीके चरणोंमें हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम है।

हड्डियोंकी सभी सन्धियाँ अलग-अलग हो गयी थीं, केवल ऊपर चमड़ी-चर्म मढ़ा हुआ था। हाथ, पैर, ग्रीवा और कटि हड्डियोंके जोड़ एक-एक बित्ता अलग-अलग हो गये थे। ऊपर चर्ममात्र था, सन्धि लंबी हो गयी थी। महाप्रभुकी ऐसी दशा देखकर सभी भक्त दुःखी हो गये। उनके मुखसे लार और फेन बह रहा था, नेत्र [illegible] हुए [illegible] प्रभुकी ऐसी दशा देखकर भक्तोंके प्राण शरीरको परित्याग करनेके [illegible]

गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-
दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः ।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृतो
गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥*

(चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी अब प्रायः तीन दशाएँ देखी जाती थीं—अन्तर्दशा, अर्धबाह्यदशा और बाह्यदशा । अन्तर्दशामें वे गोपीभावसे या राधा-भावसे श्रीकृष्णके विरहमें, मिलनमें भाँति-भाँतिके प्रलाप किया करते थे । अर्धबाह्यदशामें अपनेको कुछ-कुछ समझने लगते और अब थोड़ी देर पहले जो देख रहे थे, उसे ही अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको सुनाते थे और उस भावके बदलनेके कारण पश्चात्ताप प्रकट करते हुए रुदन भी करते

* श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं—नीलाचलके निकट समुद्रकी बालुकाके चटकपर्वतको देखकर 'गोवर्धनके भ्रमसे मैं गिरिराज गोवर्धनके दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर महाप्रभु उस ओर दौड़ने लगे । अपने सभी विरक्त वैष्णवों-से वेष्टित वही गौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें पागल बना रहे हैं ।

थे। बाह्यदशामें खूब अच्छी—भली बातें करते थे और सभी भक्तोंका यथायोग्य सत्कार करते, बड़ोंको प्रणाम करते, छोटोंकी कुशल पूछते। इस प्रकार उनकी तीन ही दशाएँ भक्तोंको देखनेमें आती थीं। तीसरी दशामें तो वे बहुत ही कम कभी-कभी आते थे, नहीं तो सदा अन्तर्दशा या अर्धबाह्यदशामें ही मग्न रहते थे। स्नान, शयन, भोजन और पुरुषोत्तम-दर्शन, ये तो शरीरके स्वभावानुसार स्वतः ही सम्पन्न होते रहते थे। अर्ध-बाह्यदशामें भी इन कामोंमें कोई विघ्न नहीं होता था। प्रायः उनका अधिकांश समय रोनेमें और प्रलापमें ही बीतता था। रोनेके कारण आँखें सदा चढ़ी-सी रहती थीं, निरन्तरकी अश्रुधाराके कारण उनका वक्षःस्थल सदा भीगा ही रहता था। अश्रुओंकी धारा बहनेसे कपोलोंपर कुछ हल्की-सी पपड़ी पड़ गयी थी और उनमें कुछ पीलापन भी आ गया था। रामानन्द राय और स्वरूपदामोदर ही उनके एकमात्र सहारे थे। विरहकी वेदनामें इन्हें ही ललिता और विशाखा समझकर तथा इनके गलेसे लिपट-कर वे अपने दुःखको कुछ शान्त करते थे। स्वरूप गोस्वामीके कोकिल-कूजित कण्ठसे कविता श्रवण करके वे परमानन्द सुखका अनुभव करते थे। उनका विरह उन प्रेममयी पदावलियोंके श्रवणसे जितना ही अधिक बढ़ता था, उतनी ही उन्हें प्रसन्नता होती थी और वे उठकर नृत्य करने लगते थे।

एक दिन महाप्रभु समुद्रकी ओर जा रहे थे, दूरसे ही उन्हें बालुकाका चटक नामक पहाड़-सा दीखा। बस फिर क्या था, जोरोंकी हुंकार मारते हुए आप उसे ही गोवर्धन समझकर उसी ओर दौड़े। इनकी अद्भुत हुंकारको सुनकर जो भी भक्त जैसे बैठा था, वह वैसे ही इनके पीछे दौड़ा। किन्तु भला, ये किसके हाथ आनेवाले थे। वायुकी भाँति आवेगके झोंकोंके साथ उड़े चले जा रहे थे। उस समय इनके सम्पूर्ण शरीरमें सभी सात्त्विक विकार उत्पन्न हो गये थे। बड़ी ही विचित्र और

अभूतपूर्व दशा थी ! कविराज गोस्वामीने अपनी मार्मिक लेखनीसे बड़ी ही ओजस्विनी भाषामें इनकी दशाका वर्णन किया है। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

> प्रति रोमकूपे मांस व्रणेर आकार।
> तार उपरे रोमोद्गम कदंब प्रकार॥
> प्रतिरोमे प्रस्वेद पड़े रुधिरेर धार।
> कंठ घर्घर, नाहि वर्णेर उच्चार॥
> दुई नेत्रे भरि, अश्रु बहये अपार।
> समुद्रे मिलिला येन गंगा-यमुना धार॥
> वैवर्ण्ये शंख प्राय, स्वेद हैल अंग।
> सबे कंप उठे येन समुद्रे तरंग॥

अर्थात् 'प्रत्येक रोमकूप मानो मांसका फोड़ा ही बन गया है, उनके ऊपर रोम ऐसे दीखते हैं जैसे कदम्बकी कलियाँ। प्रत्येक रोमकूपसे रक्तकी धारके समान पसीना बह रहा है। कण्ठ घर्घर शब्द कर रहा है, एक भी वर्ण स्पष्ट सुनायी नहीं देता। दोनों नेत्रोंमेंसे अपार अश्रुओंकी दो धाराएँ बह रही हैं मानो गङ्गाजी और यमुनाजी मिलनेके लिये समुद्रकी ओर जा रही हैं। वैवर्ण्यके कारण मुख शंखके समान सफेद-सा पड़ गया है। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया है। शरीरमेंसे कँपकँपी ऐसे उठती हैं मानो समुद्रमेंसे तरङ्गें उठ रही हों।'

ऐसी दशा होनेपर प्रभु और आगे न बढ़ सके। वे थर-थर काँपते हुए एकदम भूमिपर गिर पड़े। गोविन्द पीछे दौड़ा आ रहा था, उसने प्रभुको इस दशामें पड़ा हुआ देखकर उनके मुखमें जल डाला और अपने वस्त्रसे वायु करने लगा। इतनेमें ही जगदानन्द पण्डित, गदाधर गोस्वामी, रमाई, नदाई तथा स्वरूपदामोदर-आदि भक्त पहुँच गये।

प्रभुकी ऐसी विचित्र दशा देखकर सभीको परम विस्मय हुआ। सभी प्रभुको चारों ओरसे घेरकर उच्चस्वरसे संकीर्तन करने लगे। अब प्रभुको कुछ-कुछ होश आया। वे हुंकार मारकर उठ बैठे और अपने चारों ओर भूलेसे, भटकेसे, कुछ बौराये-से इधर-उधर देखने लगे। और स्वरूप-गोस्वामीसे रोते-रोते कहने लगे—'अरे! हमें यहाँ कौन ले आया? गोवर्धन-परसे यहाँ हमें कौन उठा लाया! अहा! वह कैसी दिव्य छटा थी, गोवर्धनकी नीरव निकुञ्जमें नन्दलालने अपनी वही बाँसकी वंशी बजायी। उसकी मीठी ध्वनि सुनकर मैं भी उसी ओर उठ धायी। राधारानी भी अपनी सखी-सहेलियोंके साथ उसी स्थानपर आयीं। अहा! उस साँवरेकी कैसी सुन्दर मन्द मुसकान थी! उसकी हँसीमें जादू था। सभी गोपिकाएँ थकी-सी, छकी-सी, भूली-सी, भटकी-सी, उसीको लक्ष्य करके दौड़ी आ रही थीं। सहसा वह साँवला अपनी सर्वश्रेष्ठ सखी श्रीराधिकाजीको साथ लेकर न जाने किधर चला गया। तब क्या हुआ कुछ पता नहीं। यहाँ मुझे कौन उठा लाया?' इतना कहकर प्रभु बड़े ही जोरोंसे हा कृष्ण! हा प्राणवल्लभ! हा हृदयरमण! कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे।

प्रभुकी इस अद्भुत दशाका समाचार सुनकर श्रीपरमानन्दजी पुरी और ब्रह्मानन्दजी भारती भी दौड़े आये। अब प्रभुकी एकदम बाह्य दशा हो गयी थी, अतः उन्होंने श्रद्धापूर्वक इन दोनों पूज्य संन्यासियोंको प्रणाम किया और संकोचके साथ कहने लगे—'आपने क्यों कष्ट किया! व्यर्थ ही इतनी दूर आये।'

पुरी गोस्वामीने हँसकर कहा—'हम भी चले आये कि चलकर तुम्हारा नृत्य ही देखें।'

इतना सुनते ही प्रभु लज्जित-से हो गये। भक्तवृन्द महाप्रभुको साथ लेकर उनके निवासस्थानपर आये।

श्रीकृष्णान्वेषण

पयोराशेस्तीरे स्फुरदुपवनालीकलनया
मुहुर्वृन्दारण्यस्मरणजनितप्रेमविवशः ।
क्वचित् कृष्णावृत्तिप्रचलरसनो भक्तिरसिकः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

(स्त० मा० १ चैतन्याष्टक ६)

महाप्रभु एक दिन समुद्रकी ओर स्नान करनेके निमित्त आ रहे थे। दूरसे ही समुद्रतटकी शोभाको देखकर वे मुग्ध हो गये। वे खड़े होकर

---

* समुद्रतटके सुन्दर उपवनको देखकर प्रभुको बार-बार वृन्दावनकी निकुञ्ज याद आने लगी। उस अनुपम अरण्यके स्मरणमात्रसे ही प्रभु प्रेमविवश हो गये। उन भक्तिरसिक श्रीगौराङ्गकी चञ्चल रसना निरन्तर 'कृष्ण-कृष्ण' इन नामोंकी आवृत्ति करने लगी। ऐसे वे श्रीगौराङ्ग फिर कभी हमारे दृष्टिगोचर होंगे क्या?

उस अद्भुत छटाको निहारने लगे। अनन्त जलराशिसे पूर्ण चरित्रगति सागर अपने नीलरङ्गके जलसे अठखेलियाँ करता हुआ कुछ गम्भीर-सा शब्द कर रहा है। समुद्रके किनारेपर खजूर, ताड़, नारियल और अन्य विविध प्रकारके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपने लंबे-लंबे पल्लवरूपी हाथोंसे पथिकोंको अपनी ओर बुला रहे हैं। वृक्षोंके अङ्गोंका जोरोंसे आलिङ्गन किये हुए उनकी प्राणप्यारी लताएँ धीरे-धीरे अपने कोमल करोंको हिला-हिलाकर संकेतसे उन्हें कुछ समझा रही हैं। नीचे एक प्रकारकी नीली-नीली घास अपने हरे-पीले-लाल तथा भाँति-भाँतिके रंगवाले पुष्पोंसे उस वन्यस्थलीकी शोभाको और भी अधिक बढ़ाये हुए है। मानो श्रीकृष्णकी गोपियोंके साथ होनेवाली रासक्रीड़ाके निमित्त नीले रङ्गके विविध चित्रोंसे चित्रित कालीन बिछ रही हो। महाप्रभु उस मनमोहिनी दिव्य छटाको देखकर आत्मविस्मृत-से बन गये। वे अपनेको प्रत्यक्ष श्रीवृन्दावनमें ही खड़ा हुआ समझने लगे। समुद्रका नीला जल उन्हें यमुनाजल ही दिखायी देने लगा। उस क्रीड़ास्थलीमें सखियोंके साथ श्रीकृष्णको क्रीड़ा करते न देखकर उन्हें रासमें भगवान्‌के अन्तर्धान होनेकी लीला स्मरण हो उठी। बस, फिर क्या था, लगे वृक्षोंसे श्रीकृष्णका पता पूछने। वे अपनेको गोपी समझकर वृक्षोंके समीप जाकर बड़े ही करुणस्वरसे उन्हें सम्बोधन करके पूछने लगे—

> हे कदम्ब! हे निम्ब! अंब! क्यों रहे मौन गहि।
> हे बट! उतँग सुरंग वीर कहु तुम इत उत लहि॥
> हे अशोक! हरि-सोक लोकमणि पियहि बतावहु।
> अहो पनस! सुभ सरस मरत-तिय अमिय पियावहु॥

इतना कहकर फिर आप ही-आप कहने लगे—'अरी सखियो! ये पुरुष जातिके वृक्ष तो उस साँवलेके संगी-साथी ही हैं। पुरुष जाति तो निर्दयी

होती है। ये परायी पीरको क्या जानें। चलो, लताओंसे पूछें। स्त्री-जाति होनेसे उनका चित्त दयामय और कोमल होता है, वे हमें अवश्य ही प्यारेका पता बतावेंगी। सखि! इन लताओंसे तो पूछो। देखें, ये क्या कहती हैं?' यह कहकर आप लताओंको सम्बोधन करके उसी प्रकार अश्रु-विमोचन करते हुए गद्गद कण्ठसे करुणाके साथ पूछने लगे—

हे मालति! हे जाति! जूथके! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत॥
हे केतकि! इततें कितहूँ चितये पिय रूसे।
कै नँदनन्दन मन्द मुसुकि तुमरे मन मूसे॥

फिर स्वतः ही कहने लगी—'अरी सखियो! ये तो कुछ भी उत्तर नहीं देतीं। चलो, किसी औरसे ही पूछें।' यह कहकर आगे बढ़ने लगे। आगे फलोंके भारसे नवे हुए बहुत-से वृक्ष दिखायी दिये। उन्हें देखकर कहने लगे—'अलि! ये वृक्ष तो अन्य वृक्षोंकी भाँति निर्दयी नहीं जान पड़ते। देखो, सम्पत्तिशाली होकर भी कितने नम्र हैं। इन्होंने इधरसे जानेवाले प्यारेका अवश्य ही सत्कार किया होगा। क्योंकि जो सम्पत्ति पाकर भी नम्र होते हैं, उन्हें वैसा भी अतिथि क्यों न हो, प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। इनसे प्यारेका पता अवश्य लग जावेगा। हाँ, तो मैं ही पूछती हूँ।' यह कहकर वे वृक्षोंसे कहने लगे—

हे मुक्ताफल! बेल धरे मुक्ताफल माला।
देखे नैन-बिसाल मोहना नँदके लाला॥
हे मन्दार! उदार बीर करबीर! महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर, मन-हरन धीर-गति॥

फिर चन्दनकी ओर देखकर कहने लगे—'यह बिना ही माँगे सबको शीतलता और सुगन्ध प्रदान करता है, यह हमारे ऊपर अवश्य दया करेगा', इसलिये कहते हैं—

हे चन्दन ! दुखकन्दन ! सबकी जरन जुड़ावहु ।
नँदनन्दन, जगवन्दन, चन्दन ! हमहिं बतावहु ॥

फिर पुष्पोंसे फूली हुई लताओंकी ओर देखकर मानो अपने साथकी सखियोंसे कह रहे हैं—

फूली री इन लतनि फूलि रहिं फूलनि जोई ।
सुन्दर पियके परस बिना अस फूल न होई ॥

प्यारी सखियो ! अवश्य ही प्यारेने अपनी प्रिय सखीको प्रसन्न करनेके निमित्त इनपरसे फूल तोड़े हैं, तभी तो ये इतनी प्रसन्न हैं । प्यारेके स्पर्श बिना इतनी प्रसन्नता आ ही नहीं सकती । यह कहकर आप उनकी ओर हाथ उठा-उठाकर कहने लगे—

हे चम्पक ! हे कुसुम ! तुम्हें छबि सबसों न्यारो ।
नेंक बताय जु देहु जहाँ हरि कुंज-बिहारो ॥

इतनेमें ही कुछ मृग उधरसे दौड़ते हुए आ निकले । उन्हें देख-देखकर जल्दी कहने लगे—

हे सखि ! हे मृगवधू ! इन्हें किन पूछहु अनुसरि ।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ॥

हे तुलसी ! कल्याणि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी ।
क्यों न कहौ तुम नन्द-सुवन सौं बिथा हमारी ॥

इतना कहकर आप जोरोंसे समुद्रकी ओर दौड़ने लगे और समुद्रके जलको यमुना समझकर कहने लगे—

हे जमुना ! सब जानि बूझि तुम हठहिं गहत हौ ?
जो जल जग उद्धार ताहि तुम प्रकट बहत हौ ॥

थोड़ी देरमें उन्हें मालूम हुआ कि करोड़ों कामदेवोंके सौन्दर्यको फीका बनानेवाले श्रीकृष्ण कदम्बके नीचे खड़े मुरली बजा रहे हैं । उन्हें देखते ही प्रभु उनकी ओर जल्दीसे दौड़े । बीचमें ही मूर्छा आनेसे बेहोश होकर गिर पड़े । उसी समय राय रामानन्द, स्वरूप गोस्वामी, शंकर, गदाधर पण्डित और जगदानन्द आदि वहाँ आ पहुँचे । प्रभु अब अर्धबाह्य दशामें थे । वे आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर कृष्णकी खोज कर रहे थे और स्वरूप गोस्वामीके गलेको पकड़कर रोते-रोते कह रहे थे—'अभी तो थे, अभी इसी क्षण तो मैंने उनके दर्शन किये थे । इतनी ही देरमें वे मुझे ठगकर कहाँ चले गये ? मैं अब प्राण धारण न करूँगी । प्यारेके विरहमें मर जाऊँगी । हाय ! दुर्भाग्य मेरा पीछा नहीं छोड़ता । पाये हुएको भी मैं गँवा बैठी ।' राय रामानन्दजी भाँति-भाँतिकी कथाएँ कहने लगे । स्वरूप गोस्वामीसे प्रभुने कोई पद गानेके लिये कहा । स्वरूप गोस्वामी अपनी उसी पुरानी सुरीली तानसे गीतगोविन्दके इस पदको गाने लगे—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ १ ॥

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ॥२॥

इस पदको सुनते ही प्रभुके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग फड़कने लगे। वे सिर हिलाते हुए कहने लगे—'अहा, विहरति हरिरिह सरसवसन्ते !' ठीक है, स्वरूप ! आगे सुनाओ। मेरे कर्णोंमें इस अमृतको चुआ दो। तुम चुप क्यों हो गये ? इस अनुपम रससे मेरे हृदयको भर दो। कानोंमें होकर बहने लगे। और कहो, और कहो। आगे सुनाओ, फिर क्या हुआ। स्वरूप पदको आगे गाने लगे—

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥३॥
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकासे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥४॥

महाप्रभुने कहा—'अहा धन्य है, इसको मत, आगे कहो। हाँ 'स्मरतूणविलासे' ठीक है, फिर ?' स्वरूप गोस्वामी गाने लगे—

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे ॥५॥
माधविकापरिमलललिते नवमालिजातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ॥६॥

महाप्रभु कहने लगे—'धन्य धन्य, 'अकारणबन्धौ' सचमुच वसन्त युवक-युवतियोंका अकृत्रिम सखा है। आगे कहो, आगे'—स्वरूप उसी स्वरमें मस्त होकर गाने लगे—

स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥७॥

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम्।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम्॥८॥

महाप्रभु इस पदको सुनते ही नृत्य करने लगे। उन्हें फिर आत्म-विस्मृति हो गयी। वे बार-बार स्वरूप गोस्वामीका हाथ पकड़कर उनसे पुनः-पुनः पद-पाठ करनेका आग्रह कर रहे थे। प्रभुकी ऐसी उन्मत्तावस्था-को देखकर सभी विस्मृत-से बन गये। स्वरूप गोस्वामी प्रभुकी ऐसी दशा देखकर पद गाना नहीं चाहते थे, प्रभु उनसे बार-बार आग्रह कर रहे थे। जैसे-तैसे रामानन्दजीने उन्हें बिठाया, उनके ऊपर जल छिड़का और वे अपने वस्त्रसे वायु करने लगे। प्रभुको कुछ-कुछ चेत हुआ। तब राय महाशय सभी भक्तोंके साथ प्रभुको समुद्रतटपर ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने प्रभुको स्नान कराया। स्नान कराके सभी भक्त प्रभुको उनके निवासस्थानपर ले गये। अब प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। तब सभी भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये।

उन्मादावस्थाकी अद्भुत आकृति

अनुद्घाट्य द्वारत्रयमुरु च भित्तित्रयमहो
विलङ्घ्योच्चैः कालिङ्गिकसुरभिमध्ये निपतितः।
तनूद्यत्संकोचात् कमठ इव कृष्णोरुविरहा-
द्विराजन् गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥*

(चैत० स्त० कल्पद्रु०)

महाप्रभुकी दिव्योन्मादावस्था बड़ी ही अद्भुत थी। उन्हें शरीरका ही जब होश नहीं था, तब शरीरको स्वस्थ रखनेकी परवा तो रह ही कैसे सकती है ? अपनेको शरीरसे एकदम पृथक् समझकर सभी चेष्टाएँ किया करते थे। उनकी हृदयको हिला देनेवाली अपूर्व बातोंको सुनकर ही हम शरीराध्यासियोंके तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या एक शरीरधारी प्राणी इस प्रकार शरीरकी सुधि भुलाकर ऐसे भयङ्कर व्यापार कर सकता है, जिसके श्रवणसे ही भय मालूम पड़ता हो, किन्तु चैतन्यदेवने तो ये सभी चेष्टाएँ की थीं और श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे उन्हें देखा था। इतनेपर भी कोई अविश्वास करे तो करता रहे। महाप्रभुकी गम्भीराकी दशा वर्णन करते हुए कविराज गोस्वामी कहते हैं—

गम्भीरा-भितरे रात्रे नाहि निद्रा-लव,
भित्ते मुख-शिर घषे क्षत हय सब।
तीन द्वारे कपाट प्रभु यायेन बाहिरे,
कभु सिंहद्वारे पड़े, कभु सिन्धु नीरे॥

---

* श्रीरघुनाथ गोस्वामी कहते हैं—'बंद हुए तीनों द्वारोंको बिना खोले ही और तीनों परकोटाओंको भिसिको लाँघकर जो कृष्णविरहमें पागल हुए शरीरको संकोचके कारण उन्मादावस्थामें कछुएकी तरह बनाये हुए कलिङ्गदेशीय गौओंके बीचमें आ पड़े थे, वे ही गौराङ्ग मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे मदमत्त बना रहे हैं।'

अर्थात् 'गम्भीरा मन्दिरके भीतर महाप्रभु एक क्षणके लिये भी नहीं सोते थे। कभी मुख और सिरको दीवारोंसे रगड़ने लगते। इस कारण रक्तकी धारा बहने लगती और सम्पूर्ण मुख क्षत-विक्षत हो जाता। कभी द्वारोंके बंद रहनेपर भी बाहर आ जाते, कभी सिंहद्वारपर आकर पड़ रहते तो कभी समुद्रके जलमें ही कूद पड़ते।' कैसा दिलको दहला देनेवाला हृदयविदारक वर्णन है।

कभी-कभी बड़े ही करुणस्वरमें जोरोंसे रुदन करने लगते, उस करुणाक्रन्दनको सुनकर पत्थर भी पसीजने लगते और वृक्ष भी रोते हुए-से दिखायी पड़ते। वे बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें रोते-रोते कहते—

> कहाँ मोर प्राणनाथ मुरलीवदन
>
> काहाँ करौं काहाँ पाओं व्रजेन्द्रनन्दन।
>
> काहारे कहिब, केबा जाने मोर दुःख,
>
> व्रजेन्द्रनन्दन बिना फाटे मोर बुक॥

'हाय! मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं? जिनके मुखपर मनोहर मुरली विराजमान है ऐसे मेरे मनमोहन मुरलीधर कहाँ हैं? अरी, मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मैं अपने प्यारे व्रजेन्द्रनन्दनको कहाँ पा सकूँगा? मैं अपनी विरह-वेदनाको किससे कहूँ? कहूँ भी तो मेरे दुःखको जानेगा ही कौन? पराये पीरको समझनेकी सामर्थ्य ही किसमें है? उन प्यारे व्रजेन्द्रनन्दन प्राणवल्लभके बिना मेरा हृदय फटा जा रहा है।' इस प्रकार वे सदा तड़पते-से रहते। मछली जैसे कीचड़में छटपटाती है, सिर कटनेपर बकरेका सिर जिस प्रकार थोड़ी देरतक इधर-उधर छटपटाता-सा रहता है उसी प्रकार वे दिन-रात छटपटाते रहते। रात्रिमें उनकी विरह-वेदना और भी अधिक बढ़ जाती। उसी वेदनामें वे स्थानको छोड़कर इधर-उधर भाग जाते और जहाँ भी बेहोश होकर गिर पड़ते वहीं पड़े रहते। एक दिनकी एक अद्भुत घटना सुनिये—

नियमानुसार स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्दजी प्रभुको कृष्ण-कथा और विरहके पद सुनाते रहे। सुनाते-सुनाते अर्धरात्रि हो गयी। राय महाशय अपने घर चले गये, स्वरूप गोस्वामी अपनी कुटियामें पड़ रहे।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि गोविन्दका महाप्रभुके प्रति वात्सल्य-भाव था। उसे प्रभुकी ऐसी दयनीय दशा असह्य थी। जिस प्रकार वृद्धा माता अपने एकमात्र पुत्रको पागल देखकर सदा उसके शोकमें उद्विग्न-सी रहती है, उसी प्रकार गोविन्द सदा उद्विग्न बना रहता। प्रभु कृष्णविरहमें दुखी रहते और गोविन्द प्रभुकी विरहावस्थाके कारण सदा खिन्न-सा बना रहता। वह प्रभुको छोड़कर पलभर भी इधर-उधर नहीं जाता। प्रभुको भीतर सुलाकर आप गम्भीराके दरवाजेपर सोता। हमारे पाठकोंमेंसे बहुतोंको अनुभव होगा कि किसी यन्त्रका इञ्जिन सदा धक्-धक् शब्द करता रहता है। सदा उसके पास रहनेवाले लोगोंके कानमें वह शब्द भर जाता है, फिर सोते-जागतेमें वह शब्द बाधा नहीं पहुँचाता, उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता, उसके इतने भारी कोलाहलमें भी नींद आ जाती है। रात्रिमें सहसा वह बंद हो जाय तो बस उसी समय नींद खुल जाती है और अपने चारों ओर देखकर उस शब्दके बंद होनेकी जिज्ञासा करने लगते हैं। गोविन्दका भी यही हाल था। महाप्रभु रात्रिभर जोरोंसे करुणाके साथ पुकारते रहते—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !

हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

ये शब्द गोविन्दके कानोंमें भर गये थे, इसलिये जब भी ये बंद हो जाते तभी उसकी नींद खुल जाती और वह प्रभुकी खोज करने लगता। स्वरूप गोस्वामी और राय महाशयके चले जानेपर प्रभु जोरोंसे रोते-रोते श्रीकृष्णके नामोंका कीर्तन करते रहे। गोविन्द द्वारपर ही सो रहा था। रात्रिमें सहसा उसकी आँखें अपने-आप ही खुल गयीं।

गोविन्द शंकित तो सदा बना ही रहता था, वह जल्दीसे उठकर बैठा हो गया, उसे प्रभुकी आवाज नहीं सुनायी दी। घबड़ाया-सा काँपता हुआ वह गम्भीराके भीतर गया। जल्दीसे चकमक जलाकर उसने दीपकको जलाया। यहाँ उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर वह सन्न रह गया। महाप्रभुका बिस्तरा ज्यों-का-त्यों ही पड़ा है, महाप्रभु वहाँ नहीं हैं। गोविन्दको मानो लाखों बिच्छुओंने एक साथ काट लिया हो। उसने जोरोंसे स्वरूप गोस्वामीको आवाज दी। 'गुसाईं-गुसाईं! प्रलय हो गयी, हाय, मेरा भाग्य फूट गया। गुसाईं! जल्दी दौड़ो। महाप्रभुका कुछ पता नहीं।' गोविन्दके करुणाक्रन्दनको सुनकर स्वरूप गोस्वामी जल्दीसे उतरकर नीचे आये। दोनोंके हाथ काँप रहे थे। काँपते हुए हाथोंसे उन्होंने उस विशाल भवनके कोने-कोनेमें प्रभुको ढूँढ़ा। प्रभुका कुछ पता नहीं। उस किलेके समान भवनके तीन परकोटा थे, उनके तीनों दरवाजे ज्यों-के-त्यों ही बंद थे। अब भक्तोंको आश्चर्य इस बातका हुआ कि प्रभु गये किधरसे। आकाशमेंसे उड़कर तो कहीं चले नहीं गये। सम्भव है यहीं कहीं पड़े हों। घबड़ाया हुआ आदमी पागल ही हो जाता है। बावला गोविन्द सुईकी तरह जमीनमें हाथसे टटोल-टटोलकर प्रभुको ढूँढ़ने लगा। स्वरूप गोस्वामीने कुछ प्रेमकी भर्त्सनाके साथ कहा—'गोविन्द! क्या तू भी पागल हो गया? अरे! महाप्रभु कोई सुई तो हो ही नहीं गये जो इस तरह हाथसे टटोल रहा है, जल्दीसे मशाल जला। समुद्रतटपर चलें, सम्भव है वहीं पड़े होंगे। इस विचारको छोड़ दे कि किवाड़ें बंद होनेपर वे बाहर कैसे गये। कैसे भी गये हों, बाहर ही होंगे।' काँपते-काँपते गोविन्दने जल्दीसे मशालमें तैल डाला, उसे दीपकसे जलाकर वह स्वरूप गोस्वामीके साथ जानेको तैयार हुआ। जगदानन्द, वक्रेश्वर पण्डित, रघुनाथदास आदि सभी भक्त मिलकर प्रभुको खोजने चले। सबसे पहले मन्दिरमें ही भक्त खोजते थे।

इसलिये सिंहद्वारकी ही ओर सब चले। वहाँ उन्होंने बहुत-सी मोटी-मोटी तैलङ्गी गौओंको खड़े देखा। पगला गोविन्द जोरोंसे चिल्ला उठा—'यहीं होंगे।' किसीने उसकी बातपर ध्यान नहीं दिया। भला गौओंके बीचमें प्रभु कहाँ, सब आगे बढ़ने लगे। किन्तु विक्षिप्त गोविन्द गौओंके भीतर घुसकर देखने लगा। वहाँ उसने जो कुछ देखा उसे देखकर वह डर गया। जोरोंसे चिल्ला उठा—'गुसाईं! यहाँ आओ देखो, यह क्या पड़ा है?' सभी उसी ओर दौड़े। कोई भी न जान सका यह गौओंके बीचमें कौन-सा जानवर पड़ा है, गौएँ उसे बड़े ही स्नेहसे चाट रही हैं। गोविन्द मशालको उसके समीप ले गया और जोरोंसे चिल्ला उठा—'महाप्रभु हैं।' भक्तोंने भी ध्यानसे देखा। सचमुच महाप्रभु ही हैं। उस समय उनकी आकृति कैसी बन गयी थी उसे कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

पेटेर भितर हस्त-पाद कूर्मेर आकार।
मुखे फेन, पुलकाङ्ग नेत्रे अश्रुधार॥
अचेतन पड़िया छेन येन कूष्माण्डफल।
बाहिरे जड़िमा अन्तरे आनन्दविह्वल॥
गाभि सब चौदिके शुँके प्रभुर श्रीअङ्ग।
दूर कैले नाहि छाड़े प्रभुर अङ्ग सङ्ग॥

अर्थात् 'महाप्रभुके हाथ-पैर पेटके भीतर घँसे हुए थे। उनकी आकृति कछुएकी-सी बन गयी थी। मुखसे निरन्तर फेन निकल रहा था, सम्पूर्ण अङ्गके रोम खड़े हुए थे। दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। वे कूष्माण्ड फलकी भाँति अचेतन पड़े हुए थे। बाहरसे तो जड़ता प्रतीत होती थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर वे आनन्दमें विह्वल हो रहे थे। गौएँ चारों ओर खड़ी होकर प्रभुके श्रीअङ्गको सूँघ रही थीं। उन्हें हटा-

बार हटाते थे, किन्तु वे प्रभुके अङ्गके सङ्गको छोड़ना ही नहीं चाहती थीं। फिर वहीं आ जाती थीं।'

अस्तु; भक्तोंने मिलकर संकीर्तन किया। कानोंमें जोरोंसे हरिनाम सुनाया, जल छिड़का, वायु की तथा और भी भाँति-भाँतिके उपाय किये, किन्तु प्रभुको चेतना नहीं हुई। तब विवश होकर भगवान्द उन्हें उसी दशामें उठाकर निवासस्थानकी ओर ले चले। वहाँ पहुँचनेपर प्रभुको कुछ-कुछ होश होने लगा। उनके हाथ-पैर धीरे-धीरे पेटमेंसे निकलकर सीधे होने लगे। शरीरमें कुछ-कुछ रक्तका सञ्चार-सा होता हुआ प्रतीत होने लगा। थोड़ी ही देरमें अर्धबाह्य दशामें आकर इधर-उधर देखते हुए जोरोंके साथ क्रन्दन करते हुए कहने लगे—'हाय, हाय! मुझे यहाँ कौन ले आया? मेरा वह मनमोहन श्याम कहाँ चला गया? मैं उसकी मुरलीकी मनोहर तानको सुनकर ही गोपियोंके साथ उधर चली गयी। श्यामने अपने सङ्केतके समय वही मनोहारिणी मुरली बजायी। उस मुरली-स्वरमें ऐसा आकर्षण था कि सखियोंकी पाँचों इन्द्रियाँ उसी ओर आकर्षित हो गयीं। ठकुरानी राधारानी भी गोपियोंको साथ लेकर सङ्केतके शब्दको सुनकर उसी ओर चल पड़ीं। अहा! उस कुञ्ज-काननमें वह कदम्ब विटपके निकट ललित त्रिभङ्गीगतिसे खड़ा बाँसुरीमें सुर भर रहा था। वह भाग्यवती मुरली उसके अधरामृतपानसे उन्मत्त-सी होकर शब्द कर रही थी। उस शब्दमें कितनी करुणा थी, कैसी मधुरिमा थी, कितना आकर्षण था, कितनी मादकता, मोहकता, प्रवीणता, पटुता, प्रगल्भता और परवशता थी। उसी शब्दमें बावली बनी मैं उसी ओर निहारने लगी। वह छिछोरा मेरी ओर देखकर हँस रहा था।' फिर चौंककर कहने लगे—'स्वरूप! मैं कहाँ हूँ? मैं कौन हूँ? मुझे यहाँ क्यों ले आये? अभी-अभी तो मैं वृन्दावनमें था। यहाँ कहाँ?'

प्रभुकी ऐसी दशा देखकर स्वरूप गोस्वामी श्रीमद्भागवतके उसी प्रसङ्गके श्लोकोंको बोलने लगे। उनके श्रवणमात्रसे ही प्रभुकी उन्मादावस्था फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी। वे बार-बार स्वरूप गोस्वामीसे कहते—'हाँ सुनाओ, ठीक है, वाह-वाह, सचमुच, हाँ यही तो है, इसीका नाम तो अनुराग है।' ऐसा कहते-कहते वे स्वयं ही श्लोककी व्याख्या करने लगते। फिर स्वयं भी बड़े करुणस्वरसे श्लोक बोलने लगते—

> प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति हरिर्नायं न च प्रेम वा
> स्थानास्थानमवैति नापि मदनो जानाति नो दुर्बलाः।
> अन्यो वेद न चान्यदुःखमखिलं नो जीवनं वाश्रवं
> द्वित्राण्येव दिनानि यौवनमिदं हाहा विधेः का गतिः॥*

इस श्लोककी फिर आप ही व्याख्या करते-करते कहने लगे—'हाय! दुःख भी कितना असह्य है, यह प्रेम भी कैसा निर्दयी है। मदन हमारे ऊपर दया नहीं करता। कितनी बेकसी है, कैसी विवशता है, कोई मनकी बातको क्या जाने। अपने दुःखका आप ही अनुभव हो सकता है। अपने पास तो कोई प्यारेको रिझानेकी वस्तु नहीं। मान लें

* ये श्रीकृष्ण न तो हमारे प्रेमको ही जानते हैं और न उसके विच्छेदसे होनेवाली पीड़ाका ही अनुभव करते हैं। इधर, यह कामदेव स्थानास्थानका विचार नहीं करता, इसे हमारी दुर्बलताका ज्ञान नहीं है [हमपर प्रहार करता ही जा रहा है]। किसीसे कहें भी तो क्या कहें, कोई पराई पीड़का अनुभव भी तो नहीं करता। हमारे जीवन और प्राणकी ओर भी तो ध्यान नहीं देता। यह यौवन भी अधिक टिकाऊ नहीं है; दो-तीन दिनमें इसका भी अन्त है। हाय! विधाताकी कैसी वाम गति है!

वह हमारे नवयौवनके सौन्दर्यसे मुग्ध होकर हमें प्यार करने लगेगा, सो यह यौवन भी तो स्थायी नहीं। जलके बुद्बुदोंके समान यह भी तो क्षणभङ्गुर है। दो-चार दिनोंमें फिर अँधेरा-ही-अँधेरा है। हा! विधाताकी गति कैसी वाम है! यह इतना अपार दुःख हम अबलाओंके ही भाग्यमें क्यों लिख दिया? हम एक तो वैसे ही अबला कही जाती हैं, रहे-सहे बलको यह विरहकूकर खा गया। अब दुर्बलातिदुर्बल होकर हम किस प्रकार इस असह्य दुःखको सहन कर सकें।' इस प्रकार प्रभु अनेक श्लोकोंकी व्याख्या करने लगे। विरहके वेगके कारण आप-से-आप ही उनके मुखसे विरहसम्बन्धी ही श्लोक निकल रहे थे और स्वयं उनकी व्याख्या भी करते जाते थे। इस प्रकार व्याख्या करते-करते जोरोंसे रुदन करते-करते फिर उसी प्रकार श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त-से होकर करुण-कण्ठसे प्रार्थना करने लगे—

> हा हा कृष्ण प्राणधन, हा हा पद्मलोचन।
> हा हा दिव्य सद्गुण-सागर!
> हा हा श्यामसुन्दर, हा हा पीताम्बर-धर।
> हा हा रासविलास-नागर!
> काहाँ गेले तोमा पाइ, तुमि कह, ताहाँ याइ।
> एत कहि चलिला धाया!

हे कृष्ण! हा प्राणधन! हा पद्मलोचन! ओ दिव्य सद्गुणोंके सागर! ओ श्यामसुन्दर! प्यारे, पीताम्बर-धर! ओ रासविलास-नागर! कहाँ जानेसे तुम्हें पा सकूँगा? तुम कहो वहीं जा सकता हूँ। इतना कहते-कहते प्रभु फिर उठकर बाहरकी ओर दौड़ने लगे। तब स्वरूप गोस्वामीने उन्हें पकड़कर बिठाया। फिर आप अचेतन हो गये। होशमें आनेपर स्वरूप गोस्वामीसे कुछ गानेको कहा। स्वरूप गोस्वामी अपनी उसी सुरीली तानसे गीतगोविन्दके सुन्दर-सुन्दर पद गाने लगे।

लोकातीत दिव्योन्माद

स्वकीयस्य प्राणार्बुदसदृशगोष्ठस्य विरहात्
प्रलापादुन्मादात् सततमतिकुर्वन् विकलधीः ।
दधद्भित्तौ शश्वद्वदनविधुघर्षेण रुधिरं
क्षतोत्थं गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥*

(चैत० स्त० कल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी दिव्योन्मादकी अवस्थाका वर्णन करना कठिन तो है ही, साथ ही बड़ा ही हृदयविदारक है । हम वज्र-जैसे हृदय रखनेवालोंकी बात छोड़ दीजिये, किन्तु जो सहृदय हैं, भावुक हैं, सरस हैं, परपीड़ानुभवी हैं, मधुर रसके उपासक हैं, कोमल हृदयके हैं, जिनका हृदय परपीड़ाश्रवणसे ही भर आता है, जिनका अन्तःकरण अत्यन्त लुजलुजा—शीघ्र ही द्रवित हो जानेवाला है, वे तो इन प्रकरणोंको पढ़ भी नहीं सकते । सचमुच इन अपठनीय अध्यायोंका लिखना हमारे ही भाग्यमें बदा था । क्या करें, विवश हैं हमारे हाथमें बलपूर्वक यह लोहकी लेखनी दे दी गयी है । इतना ग्रन्थ लिखनेपर भी यह डाकिनी अभी ज्यों-की-त्यों ही बनी है, घिसती भी नहीं । न जाने किस यन्त्रालयमें यह खास तौरसे हमारे ही लिये बनायी गयी थी । हाय ! जिनके

---

* जो अपने असंख्य प्राणोंके समान प्रिय हैं, उन प्रभुके विरहसे विकल हो उन्मादवश जो निरन्तर अधिक प्रलाप कर रहे हैं तथा जो अपने चन्द्रमाके समान सुन्दर श्रीमुखको दीवालमें घिसनेके कारण बहे हुए रक्तसे रञ्जित कर रहे हैं, ऐसे श्रीगौराङ्गदेव हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमत्त बना रहे हैं ।

मुखकमलके वर्णनमें इस लेखनीने स्थान-स्थानपर अपना कलाकौशल दिखाया है, आज उसी मुखकमलके संघर्षणकी करुण-कहानी इसे लिखनी पड़ेगी। जिस श्रीमुखकी शोभाको स्मरण करके लेखनी अपने लोहपनेको भूल जाती थी, वही अब अपने काले मुँहसे उस रक्तसे रञ्जित मुखका वर्णन करेगी। इस लेखनीका मुख ही काला नहीं है। किन्तु इसके पेटमें भी काली स्याही भर रही है और स्वयं भी काली ही है। इसे मोह कहाँ, ममता कैसी, रुकना तो सीखी ही नहीं। लेखनी! तेरे इस क्रूर कर्मको बार-बार धिक्कार है।

महाप्रभुकी विरह-वेदना अब अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। सदा राधाभावमें स्थित होकर आप प्रलाप करते रहते थे। कृष्णको कहाँ पाऊँ, श्याम कहाँ मिलेंगे, यही उनकी टेक थी। यही उनका अहर्निशका व्यापार था। एक दिन राधाभावमें ही आपको श्रीकृष्णके मथुरागमनकी स्फूर्ति हो आयी, आप उसी समय बड़े ही करुणस्वरमें राधाजीके समान इस श्लोकको रोते-रोते गाने लगे—

क्व नन्दकुलचन्द्रमाः क्व शिखिचन्द्रिकालङ्कृतिः
क्व मन्दमुरलीरवः क्व नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क्व रासरसताण्डवी क्व सखि जीवरक्षौषधि-
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क्व बत हन्त हा धिग्विधिम्॥ *

---

* प्यारी सखि! वह नन्दकुलका प्रकाशक चन्द्र कहाँ है? प्यारी! वह मयूरकी पुच्छोंका मुकुट पहननेवाला वनमाली कहाँ चला गया? अहा! वह मुरलीकी मन्द-मन्द मनोहर ध्वनि सुनानेवाला अब कहाँ गया? वह इन्द्रनील मणिके समान कमनीय कान्तिमान् प्यारा कहाँ है? रासमण्डलमें थिरक-थिरककर नृत्य करनेवाला वह नटराज कहाँ चला गया? सखि! हमारे जीवनकी एकमात्र अमोघ औषधिस्वरूप वह छलिया कहाँ है? हमारे प्राणोंसे भी प्यारा वह सुहृद् किस देशमें चला गया? हमारी अमूल्य निधिको कौन लूट ले गया? हा विधाता! तुझे बार-बार धिक्कार है।

इस प्रकार विधाताको बार-बार धिक्कार देते हुए प्रभु उसी भावावेशमें श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको पढ़ने लगे। इस प्रकार आधीराततक आप अश्रु बहाते हुए गोपियोंके विरहसम्बन्धी श्लोकोंकी ही व्याख्या करते रहे।

अर्धरात्रि बीत जानेपर नियमानुसार स्वरूप गोस्वामीने प्रभुको गम्भीराके भीतर सुलाया और राय रामानन्द अपने घरको चले गये। महाप्रभु उसी प्रकार जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर नाम-संकीर्तन करते रहे। आज प्रभुकी वेदना पराकाष्ठाको पहुँच गयी। उनके प्राण छटपटाने लगे। अङ्ग किसी प्यारेके आलिङ्गनके लिये छटपटाने लगे। मुख किसीके मुखको अपने ऊपर देखनेके लिये हिलने लगा। ओष्ठ किसीके मधुमय, प्रेममय शीतलतापूर्ण अधरोंके स्पर्शके लिये स्वतः ही काँपने लगे। प्रभु अपने आवेशको रोकनेमें एकदम असमर्थ हो गये। वे जोरोंसे अपने अति कोमल सुन्दर श्रीमुखको दीवारमें घिसने लगे। दीवारकी रगड़के कारण उसमेंसे रक्त बह चला। प्रभुका गला रुँधा हुआ था, श्वास कष्टसे बाहर निकलता था। कण्ठ घर-घर शब्द कर रहा था। रक्तके बहनेसे वह स्थान रक्तवर्णका हो गया। वे लंबी-लंबी साँस लेकर गों-गों ऐसा शब्द कर रहे थे। उस दिन स्वरूप गोस्वामीको भी रात्रिभर नींद नहीं आयी। उन्होंने प्रभुका दबा हुआ 'गों गों' शब्द सुना। अब इस बातको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> विरहे व्याकुल प्रभुर उद्वेग उठिला।
> गम्भीरा-भितरे मुख घर्षिते लागिला॥
> मुखे, गण्डे, नाके, क्षत हइल अपार।
> भावावेशे ना जानेन प्रभु पड़े रक्तधार॥

सर्वरात्रि करेन भावे मुखसंघर्षण।
गों-गों शब्द करेन, स्वरूप शुनिल तखन॥*

गों-गों शब्द सुनकर स्वरूप गोस्वामी उसी क्षण उठकर प्रभुके पास आये। उन्होंने दीपक जलाकर जो देखा उसे देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। महाप्रभु अपने मुखको दीवारमें घिस रहे हैं। दीवार लाल हो गयी है, नीचे रुधिर पड़ा है। गेरुए रंगके वस्त्र रक्तमें सराबोर हो रहे हैं। प्रभुकी दोनों आँखें चढ़ी हुई हैं। वे बार-बार जोरोंसे मुखको इसी प्रकार रगड़ रहे हैं। नाक छिल गयी है। उनकी दशा विचित्र थी—

रोमकूपे रक्तोद्गम दंत सब हाले।
क्षणे अंग क्षीण हय क्षणे अंग फूले॥

जिस प्रकार सेही नामके जानवरके शरीरपर लंबे-लंबे काँटे होते हैं और क्रोधमें वे एकदम खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रभुके अङ्गके सम्पूर्ण रोम सीधे खड़े हुए थे, उनमेंसे रक्तकी धारा बह रही थी। दाँत हिल रहे थे और कड़-कड़ शब्द कर रहे थे। अङ्ग कभी तो फूल जाता था और कभी क्षीण हो जाता था। स्वरूप गोस्वामीने इन्हें पकड़कर उस कर्मसे रोका। तब प्रभुको कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। स्वरूप गोस्वामीने दुःखित चित्तसे पूछा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं! मुँहको क्यों घिस रहे हैं?'

---

* महाप्रभु जब विरहमें अत्यन्त ही व्याकुल हुए तो उन्हें उद्वेग चढ़ा। गम्भीराके भीतर अपने मुखको घिसने लगे। मुख, कपोल, नाक—ये सभी घायल हो गये, भावावेशमें प्रभुको भान नहीं पड़ा। मुखसे रक्तकी धारा बह रही थी, सम्पूर्ण रात्रि भावमें विभोर होकर मुखको घिसते रहे। गों-गों शब्द करते थे। स्वरूप गोस्वामीने उनका गों-गों शब्द सुना।

महाप्रभु उनके प्रश्नको सुनकर स्वस्थ हुए और कहने लगे—'स्वरूप ! मैं तो एकदम पागल हो गया हूँ । न जाने क्यों रात्रि मेरे लिये अत्यन्त ही दुःखदायी हो जाती है । मेरी वेदना रात्रिमें अत्यधिक बढ़ जाती है । मैं विकल होकर बाहर निकलना चाहता था । अँधेरेमें दरवाजा ही नहीं मिला । इसीलिये दीवारमें दरवाजा करनेके निमित्त मुँह घिसने लगा । यह रक्त निकला या धाव हो गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं ।'

इस बातसे स्वरूपदामोदरको बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने अपनी चिन्ता भक्तोंपर प्रकट की, उनमेंसे शङ्करजीने कहा—'यदि प्रभुको आपत्ति न हो, तो मैं उनके चरणोंको हृदयपर रखकर सदा शयन किया करूँगा, इससे वे कभी ऐसा काम करेंगे भी तो मैं रोक दूँगा ।' उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की, प्रभुने कोई आपत्ति नहीं की । इसलिये उस दिनसे शङ्करजी सदा प्रभुके पादपद्मोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण करके सोया करते थे । प्रभु इधर-से-उधर करवट भी लेते, तभी इनकी आँखें खुल जातीं और वे सचेष्ट हो जाते । वे रात्रि-रात्रिभर जागकर प्रभुके चरणोंको दबाते रहते थे । इस भयसे प्रभु अब बाहर नहीं भाग सकते थे । उसी दिनसे शङ्करजीका नाम पड़ गया 'प्रभुपादोपधान' । सचमुच वे प्रभुके पैरोंके तकिया ही थे । उन तकिया लगानेवाले महाप्रभुको, और तकिया बने हुए सेवकके चरणोंमें हमारा बारंबार प्रणाम है ।

ॐ

शारदीय निशीथमें दिव्य गन्धका अनुसरण

कुरङ्गमदजिद्वपुःपरिमलोर्मिकृष्टाङ्गनः ।
स्वकाङ्गनलिनाष्टके शशियुताब्जगन्धप्रथः ॥
मदेन्दुवरचन्दनागुरुसुगन्धिचर्चार्चितः ।
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम् ॥ *

(गोविन्दलीला० ८। ६)

विरहव्यथासे व्यथित व्यक्तियोंके लिये प्रकृतिके यावत् सौन्दर्यपूर्ण सामान हैं वे ही अत्यन्त दुःखदायी प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण ऋतुओंमें श्रेष्ठ वसन्तऋतु, शुक्लपक्षका प्रबुद्ध चन्द्र, शीतल मन्द सुगन्धित मलय मारुत, मेघकी घनघोर गर्जना, अशोक, तमाल, कमल, मृणाल आदि शोकनाशक और शीतलता प्रदान करनेवाले वृक्ष तथा उनके नवपल्लव, मधुकर, हंस, चकोर, कृष्णसार, सारङ्ग, मयूर, कोकिल, शुक, सारिका आदि सुहावने सुन्दर और सुमधुर वचन बोलनेवाले पक्षी ये सभी विरहकी अग्निको और अधिक बढ़ाते हैं। विरहिणीको सुख कहाँ, आनन्द कैसा! प्रकृतिका कोई भी प्रिय पदार्थ उसे प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकता।

---

* श्रीराधिकाजी अपनी सखी विशाखाजीसे कह रही हैं—

सखि ! जो मृगमदको भी लजानेवाली अपने शरीरकी सुगन्धसे गोपाङ्गनाओंको अपनी ओर खींच रहे हैं, जिनके कमलरूप आठों अङ्गोंसे कर्पूरयुक्त पद्मगन्ध सुवासित हो रही है; जिनका सम्पूर्ण शरीर कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन और अगरसे चर्चित है वे मदनमोहन मेरी नासिकाकी तृष्णाको और बढ़ा रहे हैं। अर्थात् उस मनवालेके वपुकी दिव्य गन्ध मुझे हठात् अपनी ओर खींच रही है।

सभी उसे सताते हैं, सभीको विरहिणीके सिझानेमें ही आनन्द आता है। पपीहा पी-पी कहकर उसके कलेजेमें कसक पैदा करता है, बसन्त उसे उन्मादी बनाता है। फूले हुए वृक्ष उसकी हँसी करते हैं और मलयाचल-का मन्दवाही मारुत उसकी मीठी-मीठी चुटकियाँ लेता है। मानो ये सब प्रपञ्च विधाताने विरहिणीको ही सिझानेके लिये रचे हों। बेचारी सबकी सहती है, दिन-रात रोती है और इन्हीं सबसे अपने प्रियतमका पता पूछती है, कैसी बेबसी है। क्यों, है न ? सहृदय पाठक अनुभव तो करते ही होंगे।

वैशाखी पूर्णिमा थी, निशानाथ अपनी सहचरी निशादेवीके साथ खिलखिलाकर हँस रहे थे। उनका सुमधुर श्वेत हास्यका प्रकाश दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त था। प्रकृति इन पति-पत्नियोंके सम्मेलनको दूरसे देखकर मन्द-मन्द मुसकरा रही थी। पवन धीरे-धीरे पैरोंकी आहट बचाकर चल रहा था। शोभा सजीव होकर प्रकृतिका आलिङ्गन कर रही थी। समुद्रतटके जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यानमें प्रभु विरहिणीकी अवस्थामें विचरण कर रहे थे। स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द प्रभृति अन्तरङ्ग भक्त उनके साथ थे। महाप्रभुके दोनों नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। मुख कुछ-कुछ म्लान था। चन्द्रमाकी चमकीली किरणें उनके श्रीमुखका धीरे-धीरे चुम्बन कर रही थीं। अनजानमें उस चुम्बनसुखसे उनके अरुण रंगके अधर श्वेतवर्णके प्रकाशके साथ और भी अधिक द्युतिमान् होकर शोभाकी भी शोभाको बढ़ा रहे थे। महाप्रभुकी वही उन्माद, वही बेकली, वही छटपटाहट, उसी प्रकार रोना, उसी तरहकी प्रार्थना करना था, उसी प्रकार घूम घूमकर वे अपने प्रियतमकी खोज कर रहे थे। प्यारेको खोजते-खोजते वे अत्यन्त ही करुणस्वरसे इस श्लोकको पढ़ते जाते थे—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥
(कृष्णकर्णामृत श्लोक ३२)

हे प्यारे, मुरलीविहारी ! तुम्हारा शैशवावस्थाका मनोहर माधुर्य त्रिभुवनविख्यात है। संसारमें उसकी मधुरिमा सर्वत्र व्याप्त है, उससे प्यारी वस्तु कोई विश्वमें है ही नहीं और मेरी चपलता, चञ्चलता, उच्छृङ्खलता तुमपर विदित ही है। तुम ही मेरी चपलतासे पूर्णरीत्या परिचित हो। बस, मेरे और तुम्हारे सिवा तीसरा कोई उसे नहीं जानता। प्यारे ! बस, एक ही अभिलाषा है, इसी अभिलाषासे अभीतक इन प्राणोंको धारण किये हुए हूँ। वह यह कि जिस मनोहर मुखकमलको देखकर व्रजवधू भूली-सी, भटकी-सी, सर्वस्व गँवाई-सी बन जाती हैं, उसी कमलमुखको अपनी दोनों आँखें फाड़-फाड़कर एकान्तमें देखना चाहती हूँ। हृदयरमण ! क्या कभी देख सकूँगी ? प्राणवल्लभ ! क्या कभी ऐसा सुयोग प्राप्त हो सकेगा ? बस, इसी प्रकार प्रेम प्रलाप करते हुए प्रभु राधारमणवल्लभ नामक उद्यानमें परिभ्रमण कर रहे थे। वे प्रत्येक वृक्षको आलिङ्गन करते, उससे अपने प्यारेका पता पूछते और फिर आगे बढ़ जाते। प्रेमसे लताओंकी भाँति वृक्षोंसे लिपट जाते, कभी मूर्छित होकर गिर पड़ते, कभी फिर उठकर इधी ओर दौड़ने लगते। उसी समय वे क्या देखते हैं कि अशोकके वृक्षके नीचे खड़े होकर वे ही मुरलीमनोहर अपनी मदमाती मुरलीको मन्द-मन्द मुसकानके साथ बजा रहे हैं। वे मुरलीमें ही कोई सुन्दर-सा मनोहारी गीत गा रहे हैं, न उनके साथ कोई सखा है, न पासमें कोई गोपिका ही। अकेले ही वे अपने स्वाभाविक टेढ़ेपनसे ललित त्रिभङ्गी गतिसे खड़े हैं।

बाँसुरी यह पूर्वजन्मकी परम तपस्विनी मुरली अरुण रंगके अधरोंका धीरे-धीरे अमृत पान कर रही है। महाप्रभु उस मनोहर मूर्तिको देखकर उसीकी ओर दौड़े। प्यारेको आलिङ्गनदान देनेके लिये वे शीघ्रतासे बढ़े! हा सर्वनाश! प्रलय हो गयी! प्यारा तो गायब! अब उसका कुछ भी पता नहीं। महाप्रभु वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े!

थोड़ी देरमें वे इधर-उधर सूँ-सूँ करके कुछ सूँघने लगे। उन्हें श्रीकृष्णके शरीरकी दिव्य गन्ध आ रही थी। गन्ध तो आ रही थी, किन्तु श्रीकृष्ण दिखायी नहीं देते थे। इसीलिये उसी गन्धके सहारे-सहारे वे श्रीकृष्णकी खोज करनेके लिये फिर चल पड़े। अहा! प्यारेके शरीरकी दिव्य गन्ध कैसी मनोहारिणी होगी, इसे तो कोई रसिकुलकी प्रवीणा नायिका ही समझ सकती है। हम अरसिकोंका उसमें प्रवेश कहाँ! हाय रे! प्यारेके शरीरकी दिव्य गन्ध घोर मादकता पैदा करनेवाली है, जैसे मद्यपीकी आँखोंसे ओझल बहुत ही उत्तम गन्धयुक्त सुरा रक्खी हो, किन्तु वह उसे दीखती न हो। जिस प्रकार वह उस आसवके लिये विकल होकर तड़पता है, उसी प्रकार प्रभु उस गन्धको सूँघकर तड़प रहे थे। उस गन्धकी उन्मादताका वर्णन कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> सेइ गन्ध वश नासा, सदा करे गन्धेर आशा।
> कभू पाय कभू ना पाय॥
> पाइले पिया पेट भरे, पिड पिड तबू करे।
> ना पाइले तृष्णाय मरिजाय॥
> मदन मोहन नाट, पसारि चाँदेर हाट।
> जगन्नारी-ग्राहक लोभाय॥
> बिना-मूल्ये देय गन्ध, गन्ध दिया करे अन्ध।
> घर याइते पथ नाहि पाय॥

एइ मत गौरहरि, गन्धे कैल मन चुरि।
भृङ्ग प्राय-इति उति धाय ॥
जाय वृक्ष लता पाशे, कृष्ण-स्फुरे सेइ आशे।
कृष्ण ना पाय, गन्ध मात्र पाय ॥

श्रीकृष्णके अङ्गकी उस दिव्य गन्धके वशमें नासिका हो गयी है, वह सदा उसी गन्धकी आशा करती रहती है। कभी तो उस गन्धको पा जाती है और कभी नहीं भी पाती है। जब पा लेती है तब पेट भरकर खूब पीती है और फिर भी 'पीऊँ और पीऊँ' इसी प्रकार कहती रहती है। नहीं पाती है तो प्याससे मर जाती है। इस नटवर मदनमोहनने रूपकी हाट लगा रखी है। माहकरूपी जो जगत्की स्त्रियाँ हैं उन्हें लुभाता है। यह ऐसा विचित्र व्यापारी है कि बिना ही मूल्य लिये हुए वैसे ही उस दिव्य गन्धको दे देता है और गन्धको देकर अन्धा बना देता है। जिससे वे बेचारी स्त्रियाँ अपने घरका रास्ता भूल जाती हैं। इस प्रकार गन्धके द्वारा जिनका मन चुराया गया है, ऐसे गौरहरि भ्रमरकी भाँति इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे वृक्ष और लताओंके समीप जाते हैं कि कहीं श्रीकृष्ण मिल जायँ किन्तु वहाँ श्रीकृष्ण नहीं मिलते, केवल उनके शरीरकी दिव्य गन्ध ही मिलती है।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी गन्धके पीछे घूमते-घूमते सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गयी। निशा अपने प्राणनाथके वियोगदुःखके स्मरणसे कुछ म्लान-सी हो गयी। उसके मुखका तेज फीका पड़ने लगा। भगवान् भुवनभास्करके आगमनके भयसे निशानाथ भी धीरे-धीरे अस्ताचलकी ओर जाने लगे। स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्द प्रभुको उनके निवासस्थानपर ले गये।

प्रभुकी सभी बातें कहते, उनकी दशा बताते और सभीका कुशल-क्षेम लेकर लौट आते। शचीमाताके लिये प्रभु प्रतिवर्ष जगन्नाथजीका प्रसाद भेजते और भाँति-भाँतिके आश्वासनोंद्वारा माताको प्रेम-सन्देश पठाते।

प्रभुके सन्देशको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> तोमार सेवा छाड़ि आमि करिनूँ सन्न्यास।
> 'बाउल' हइया आमि कैलूँ धर्म नाश॥
> एइ अपराध तुमि ना लइह आमार।
> तोमार अधीन आमि—पुत्र से तोमार॥
> नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते।
> यावत् जीब तावत् आमि नारिब छाड़िते॥

अर्थात् हे माता! मैंने तुम्हारी सेवा छोड़कर पागल होकर संन्यास धारण कर लिया है, यह मैंने धर्मके विरुद्ध आचरण किया है, मेरे इस अपराधको तुम चित्तमें मत लाना। मैं अब भी तुम्हारे अधीन ही हूँ। निमाई अब भी तुम्हारा पुराना ही पुत्र है। नीलाचलमें मैं तुम्हारी ही आज्ञासे रह रहा हूँ और जबतक जीऊँगा तबतक नीलाचलको नहीं छोड़ूँगा। इस प्रकार प्रतिवर्ष वे प्रेम-सन्देश और प्रसाद भेजते।

एक बार जगदानन्द पण्डित प्रभुकी आज्ञासे नवद्वीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने शचीमाताको प्रसाद दिया, प्रभुका कुशल-समाचार बताया और उनका प्रेम-सन्देश भी कह सुनाया। निमाईको ही सर्वस्व समझनेवाली माँ अपने प्यारे पुत्रकी ऐसी दयनीय दशा सुनकर फूट-फूटकर रोने लगीं। उसके अतिक्षीण शरीरमें अब अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी सामर्थ्य नहीं रही थी। जो कुछ थोड़ी-बहुत सामर्थ्य थी भी सो निमाईकी ऐसी भयङ्कर दशा सुनकर उसके शोकके कारण विलीन हो गयी। माता अब अपने जीवनसे निराश हो बैठी, निमाईका

श्रीअद्वैताचार्यजीकी पहेली

> एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
> भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥*
>
> (श्रीमद्भागवत ६।३।२२)

मातृभक्त श्रीगौराङ्ग उन्मादावस्थामें भी अपनी स्नेहमयी जननीको एकदम नहीं भूले थे। जब वे अन्तर्दशासे कभी-कभी बाह्य दशामें आ जाते तो अपने प्रिय भक्तोंकी और प्रेममयी माताकी कुशल-क्षेम पूछते और उनके समाचार जाननेके निमित्त जगदानन्दजीको प्रतिवर्ष गौड़ भेजते थे। जगदानन्दजी गौड़में जाकर सभी भक्तोंसे मिलते, उनसे

---

* इस मनुष्यलोकमें मनुष्यके शरीर धारण करनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि वह भगवान् वासुदेवके प्रति भक्ति करे और उनके सुमधुर नामोंका सदा अपनी जिह्वासे उच्चारण करता रहे।

प्रभुकी सभी बातें कहते, उनकी दशा बताते और सभीका कुशल-क्षेम लेकर लौट आते। शचीमाताके लिये प्रभु प्रतिवर्ष जगन्नाथजीका प्रसाद भेजते और भाँति-भाँतिके आश्वासनोंद्वारा माताको प्रेम-सन्देश पठाते। प्रभुके सन्देशको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> तोमार सेवा छाँड़ि आमि करिनूँ सन्न्यास।
> 'बाउल' हइया आमि कैलूँ धर्म नाश॥
> एइ अपराध तुमि ना लइह आमार।
> तोमार अधीन आमि—पुत्र से तोमार॥
> नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते।
> यावत् जीव तावत् आमि नारिब छाँड़िते॥

अर्थात् हे माता! मैंने तुम्हारी सेवा छोड़कर पागल होकर संन्यास धारण कर लिया है, यह मैंने धर्मके विरुद्ध आचरण किया है, मेरे इस अपराधको तुम चित्तमें मत लाना। मैं अब भी तुम्हारे अधीन ही हूँ। निमाई अब भी तुम्हारा पुराना ही पुत्र है। नीलाचलमें मैं तुम्हारी ही आज्ञासे रह रहा हूँ और जबतक जीऊँगा तबतक नीलाचलको नहीं छोड़ूँगा। इस प्रकार प्रतिवर्ष वे प्रेम-सन्देश और प्रसाद भेजते।

एक बार जगदानन्द पण्डित प्रभुकी आज्ञासे नवद्वीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने शचीमाताको प्रसाद दिया, प्रभुका कुशल-समाचार बताया और उनका प्रेम-सन्देश भी कह सुनाया। निमाईको ही सर्वस्व समझनेवाली माँ अपने प्यारे पुत्रकी ऐसी दयनीय दशा सुनकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसके अतिक्षीण शरीरमें अब अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी सामर्थ्य नहीं रही थी। जो कुछ थोड़ी-बहुत सामर्थ्य थी भी सो निमाईकी ऐसी भयङ्कर दशा सुनकर उसके शोकके कारण विलीन हो गयी। माता अब अपने जीवनसे निराश हो बैठी, निमाईका

चन्द्रवदन अब जीवनमें फिर देखनेको न मिल सकेगा, इस बातसे माताकी निराशा और भी बढ़ गयी। वह अब इस विस्मय जीवन-भारको बहुत दिनोंतक ढोते रहनेमें असमर्थ-सी हो गयी। माताने पुत्रको रोते-रोते आशीर्वाद पठाया और जगदानन्दजीको प्रेमपूर्वक विदा किया। जगदानन्दजी वहाँसे अन्यान्य भक्तोंके यहाँ होते हुए श्रीअद्वैताचार्यजीके घर गये। आचार्यने उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया और प्रभुके सभी समाचार पूछे। आचार्यका शरीर भी अब बहुत वृद्ध हो गया था। उनकी अवस्था ९० से ऊपर पहुँच गयी थी। खाल लटक गयी थी, अब वे घरसे बाहर बहुत ही कम निकलते थे। जगदानन्दको देखकर मानो फिर उनके शरीरमें नवयौवनका सञ्चार हो गया और वे एक-एक करके सभी विरक्त भक्तोंका समाचार पूछने लगे। जगदानन्दजी दो-चार दिन आचार्यके यहाँ रहे। जब उन्होंने प्रभुके पास जानेके लिये अत्यधिक आग्रह किया तब आचार्यने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी और प्रभुके लिये एक पहेलीयुक्त पत्र भी लिखकर दिया। जगदानन्दजी उस पत्रको लेकर प्रभुके पास पहुँचे।

महाप्रभु जब बाह्य दशामें आये, तब उन्होंने सभी भक्तोंके कुशल-समाचार पूछे। जगदानन्दजीने सबका कुशल-क्षेम बताकर अन्तमें अद्वैताचार्यकी वह पहेलीवाली पत्री दी। प्रभुकी आज्ञासे वे सुनाने लगे। प्रभुको कोटि-कोटि प्रणाम कर लेनेके अनन्तर उसमें यह पहेली थी—

बाउलके कहिह—लोक हइल बाउल।
बाउलके कहिह—हाटे ना बिकाय चाउल॥
बाउलके कहिह—काजे नाहिक आउल।
बाउलके कहिह—इहा कहियाछे बाउल॥*

---

* श्रीचैतन्य प्राणियोंके जीवनके आधार चावलरूपी हरिनामके

सभी समीपमें बैठे हुए भक्त इस विचित्र पहेलीको सुनकर हँसने लगे। महाप्रभु मन-ही-मन इसका मर्म समझकर कुछ मन्द-मन्द मुसकराये और जैसी उनकी आज्ञा, इतना कहकर चुप हो गये। प्रभुके बाहरी प्राण श्रीस्वरूपगोस्वामीको प्रभुकी मुसकराहटमें कुछ विचित्रता प्रतीत हुई। इसलिये दीनताके साथ पूछने लगे—'प्रभो! मैं इस विचित्र पहेलीका अर्थ समझना चाहता हूँ। आचार्य अद्वैत रायने यह कैसी अनोखी पहेली भेजी है। आप इस प्रकार इसे सुनकर क्यों मुसकराये।'

प्रभुने धीरे-धीरे गम्भीरताके स्वरमें कहा—'अद्वैताचार्य कोई साधारण आचार्य तो हैं ही नहीं। वे नामके ही आचार्य नहीं हैं, किन्तु आचार्यपनेके सभी कार्य भलीभाँति जानते हैं। उन्हें शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजापाठ करनेकी सभी विधि मालूम है। पूजामें पहले तो बड़े सत्कारके साथ देवताओंको बुलाया जाता है, फिर उनकी षोडशोपचार रीतिसे विधिवत् पूजा की जाती है, यथास्थान पधराया जाता है। जिस माङ्गलिक कार्यके निमित्त उनका आह्वान किया जाता है और वह कार्य जब समाप्त हो जाता है,

व्यापारी हैं। अद्वैताचार्य उनके प्रधान आढ़तिया हैं। जैसा ही पागल व्यापारी है वैसा ही पागल आढ़तिया भी है और पागलोंका-सा ही प्रलापपूर्ण पत्र भी पठाया है। पागलोंके सिवा इसके मर्मको कोई समझ ही क्या सकता है। पागल आढ़तिया कहता है—'उस बावले व्यापारीसे कहना। सब लोगोंके कोठी-कुठिला हरिनामरूपी चावलोंसे भर गये। अब इस बाजारमें इस सस्ते मालकी बिक्री नहीं रही। अब यह व्यापार साधारण हो गया। तुम-जैसे प्रसंग लोगोंके व्यापारीके योग्य अब यह व्यापार नहीं है। इसलिये अब इस हाटको बन्द कर दो। बावले व्यापारीको बावले आढ़तियाने यह सन्देश भिजवाया है।'

तब देवताओंसे हाथ जोड़कर कहते हैं—'गच्छ गच्छ परं स्थानम्' अर्थात् 'अब अपने परम स्थानको पधारिये ।' सम्भवतया यही उनका अभिप्राय हो, वे ज्ञानी पण्डित हैं, उनके अर्थको ठीक-ठीक समझ ही कौन सकता है ।' इस बातको सुनकर स्वरूपगोस्वामी कुछ अन्यमनस्क-से हो गये । सभीको पता चल गया कि महाप्रभु अब शीघ्र ही लीला-संवरण करेंगे । इस बातके स्मरणसे सभीका हृदय फटने-सा लगा । उसी दिनसे प्रभुकी उन्मादावस्था और भी अधिक बढ़ गयी । वे रात-दिन उसी अन्तर्दशामें निमग्न रहने लगे । प्रतिक्षण उनकी दशा लोक-बाह्य-सी ही बनी रहती थी । कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, अश्रुस्वर-भेद ।
देह हैल पुलके व्यापित ॥
हासे, कान्दे, नाचे, गाय, उठि इति-उति धाय ।
क्षणे भूमे पड़िया मूर्च्छित ॥

'शरीर सन्न पड़ जाता है, कँपकँपी छूटने लगती है । शरीरसे पसीना बहने लगता है, मुख म्लान हो जाता है, आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगती है । गला भर आता है, शब्द ठीक-ठीक उच्चारण नहीं होते हैं । देह रोमाञ्चित हो जाती है । हँसते हैं, जोरोंसे रुदन करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, उठ-उठकर इधर-उधर भागने लगते हैं, क्षणभरमें मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़ते हैं ।' प्यारे ! पगले, दयालु चैतन्य ! क्या इस पागलपनमें हमारा कुछ भी साझा नहीं है । हे दीनवत्सल ! इस पागलपनमेंसे यत्किञ्चित् भी हमें मिल जाय तो यह सार-हीन जीवन सार्थक बन जाय । मेरे गौर ! उस मादक मदिराका एक प्याला मुझको भी क्यों नहीं पिला देता ! हे मेरे पागलशिरोमणि ! तेरे चरणोंमें मैं कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ ।

समुद्रपतन और मृत्युदशा

शरज्ज्योत्स्नासिन्धोरवकलनया जातयमुना-
भ्रमाद्धावन्योऽस्मिन् हरिविरहतापार्णव इव ।
निमग्नो मूर्च्छालः पयसि निवसन् रात्रिमखिलां
प्रभाते प्राप्तः स्वैरवतु स शचीसूनुरिह नः ॥*

(श्रीचै० चरिता० अ० ली० १८।१)

सर्व शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवतमें भी दशम स्कन्ध सर्वश्रेष्ठ है, दशम स्कन्धमें भी पूर्वार्ध श्रेष्ठ है और पूर्वार्धमें भी रासपञ्चाध्यायी सर्वश्रेष्ठ है और रासपञ्चाध्यायीमें भी 'गोपी-गीत' अतुलनीय

---

* जो शरज्ज्योत्स्नापूर्ण रात्रिमें समुद्रको देखकर यमुनाके भ्रमसे हरिविरहरूपी तापार्णवमें निमग्न हुए जलमें कूद पड़े और समस्त रात्रिभर वहीं मूर्छित पड़े रहे। प्रातःकाल स्वरूपादि अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको जो प्राप्त हुए वे ही शचीनन्दन श्रीगौराङ्ग इस संसारमें हमारी रक्षा करें।

है। उसकी तुलना किसीसे की ही नहीं जा सकती, वह अनुपमेय है। उसे उपमा भी दें तो किसकी दें, उससे श्रेष्ठ या उसके समान संसारमें कोई गीत है ही नहीं। महाप्रभुको भी रासपञ्चाध्यायी ही अत्यन्त प्रिय थी। वे सदा रासपञ्चाध्यायीके ही श्लोकोंको सुना करते थे और भावावेशमें उन्हीं भावोंका अनुकरण भी किया करते थे।

एक दिन राय रामानन्दजीने श्रीमद्भागवतके तैंतीसवें अध्यायमेंसे भगवान्‌की कालिन्दीकूलकी जल-क्रीड़ाकी कथा सुनायी। प्रभुको दिनभर वही लीला स्फुरण होती रही। दिन बीता, रात्रि आयी, प्रभुकी विरहवेदना भी बढ़ने लगी। वे आज अपनेको सँभालनेमें एकदम असमर्थ हो गये। पता नहीं किस प्रकार वे भक्तोंकी दृष्टि बचाकर समुद्रके किनारे-किनारे आईटोटाकी ओर चले गये। वहाँ विशाल सागरकी नीली-नीली तरंगें उठकर संसारको हृदयकी विशालता, संसारकी अनित्यता और प्रेमकी तन्मयताकी शिक्षा दे रही थीं। प्रेमावतार गौराङ्गके हृदयसे एक सुमधुर संगीत स्वतः ही उठ रहा था। महाप्रभु उस संगीतके स्वरको श्रवण करते-करते पागल हुए बिना सोचे-विचारे ही समुद्रकी ओर बढ़ रहे थे। अहा! समुद्रके किनारेके सुन्दर-सुन्दर वृक्ष अपनी शरत्कालीन शोभासे सागरकी सुषमाको और भी अधिक शक्तिशालिनी बना रहे थे। शरद्‌की सुहावनी शर्वरी थी, अपने प्रिय पुत्र चन्द्रमाकी श्रीवृद्धि और पूर्ण ऐश्वर्यसे प्रसन्न होकर पिता सागर आनन्दसे उमड़ रहे थे। महाप्रभु उसमें कृष्णाङ्ग-स्पर्शसे पुलकित और आनन्दित हुई कालिन्दीका दर्शन कर रहे थे। उन्हें समुद्रकी एकदम विस्मृति हो गयी, वे कालिन्दीमें गोपिकाओंके साथ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णके प्रत्यक्ष दर्शन करने लगे। बस, फिर क्या था, आप उस क्रीड़ा-सुखसे क्यों वञ्चित रहते, जोरोंसे हुङ्कार करते हुए अथाह सागरके जलमें कूद पड़े। और अपने प्यारेके साथ जलविहारका आनन्द लेने लगे। इसी प्रकार जलमें डूबते और उछलते हुए उन्हें सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी।

इधर प्रभुको स्थानपर न देखकर भक्तोंको सन्देह हुआ कि प्रभु कहाँ चले गये। स्वरूपगोस्वामी गोविन्द, जगदानन्द, वक्रेश्वर, रघुनाथदास, शङ्कर आदि सभी भक्तोंको साथ लेकर व्याकुलताके साथ प्रभुकी खोजमें चले। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके सिंहद्वारसे लेकर उन्होंने तिल-तिलभर जगहको खोज डाला। सभीके साथ वे जगन्नाथ-वल्लभ नामक उद्यानमें गये, वहाँ भी प्रभुका कोई पता नहीं। वहाँसे निराश होकर वे गुण्डिचा-मन्दिरमें गये। सुन्दराचलमें उन्होंने इन्द्रद्युम्न सरोवर, समीपके सभी बगीचे तथा मन्दिर खोज डाले। सभीको परम आश्चर्य हुआ कि प्रभु गये भी तो कहाँ गये। इस प्रकार उन्हें जब कहीं भी प्रभुका पता नहीं चला तब वे निराश होकर फिर पुरीमें लौट आये। इस प्रकार प्रभुकी खोज करते-करते उन्हें सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी। प्रातः-कालके समय स्वरूपगोस्वामीने कहा—'अब चलो, समुद्रके किनारे प्रभु-की खोज करें, वहाँ प्रभुका अवश्य ही पता लग जायगा।' यह कहकर वे भक्तोंको साथ लेकर समुद्रके किनारे-किनारे चल पड़े।

इधर महाप्रभु रात्रिभर जलमें उछलते और डूबते रहे। उसी समय एक मल्लाह वहाँ जाल डालकर मछली मार रहा था, महाप्रभुका मृत्यु-अवस्थाको प्राप्त वह विकृत शरीर उस मल्लाहके जालमें फँस गया। उसने बड़ा भारी मच्छ समझकर उसे किनारेपर खींच लिया। उसने जब देखा कि यह मच्छ नहीं कोई मुर्दा है, तो उठाकर प्रभुको किनारे-पर फेंक दिया। बस, महाप्रभुके अङ्गका स्पर्श करना था कि वह मल्लाह आनन्दमें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगा। प्रभुके श्रीअङ्गके स्पर्शमात्रसे ही उसके शरीरमें सभी सात्त्विक भाव आप-से-आप ही उदित हो उठे। वह कभी तो प्रेममें विह्वल होकर हँसने लगता, कभी रोने लगता, कभी गाने लगता और कभी नाचने लगता। वह भयभीत हुआ वहाँसे दौड़ने लगा। उसे भ्रम हो गया कि मेरे शरीरमें भूतने प्रवेश किया है, इसी भयसे

वह भागता-भागता आ रहा था कि इतनेमें वे भक्त भी वहाँ पहुँच गये। उसकी ऐसी दशा देखकर स्वरूपगोस्वामीने उससे पूछा—'क्यों भाई! तुमने यहाँ किसी आदमीको देखा है, तुम इतने डर क्यों रहे हो। अपने भयका कारण तो हमें बताओ।'

भयसे काँपते हुए उस मल्लाहने कहा—'महाराज! आदमी तो मैंने यहाँ कोई नहीं देखा। मैं सदाकी भाँति मछली मार रहा था कि एक मुर्दा मेरे जालमें फँस आया। उसके अङ्गमें भूत था, वही मेरे अङ्गमें लिपट गया है। इसी भयसे मैं भूत उतरवानेके लिये ओझाके पास जा रहा हूँ। आपलोग इधर न जायँ। यह बड़ा ही भयङ्कर मुर्दा है, ऐसा विचित्र मुर्दा तो मैंने आजतक कभी देखा ही नहीं।' उस समय महाप्रभुका मृत्युदशामें प्राप्त शरीर बड़ा ही भयानक बन गया था। कविराज गोस्वामीने मल्लाहके मुखसे प्रभुके शरीरका जो वर्णन कराया है, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

जालिया कहे—इहाँ एक मनुष्य ना देखिल।
जाल बाहिते एक मृत मोर जाले आइल॥
बड़ मत्स्य बले, आमि उठाइलूँ यतने।
मृतक देखिते मोर भय हैल मने॥
जाल खसाइते तार अङ्ग-स्पर्श हइल।
स्पर्शमात्रे सेइ भूत हृदये पशिल॥
भये कम्प हैल, मोर नेत्रे बहे जल।
गद्‌गद्‌ वाणी मोर उठिल सकल॥
कि बा ब्रह्मदैत्य, कि बा भूत, कहने ना जाय।
दर्शनमात्रे मनुष्येर पशे सेइ काय॥
शरीर दीघल तार—हाथ पाँच सात।
एक हस्त पद तार, तिन तिन हाथ॥

अस्थि-सन्धि छूटि चर्म करे नड़-नड़े।
ताहा देखि, प्राण कार नाहि रहे धड़े॥
मड़ा रूप धरि, रहे उत्तान-नयन।
कभू गों-गों करे, कभू देखि अचेतन॥

स्वरूपगोस्वामीके पूछनेपर आदिया (मल्लाह) कहने लगा—मनुष्य तो मैंने यहाँ कोई देखा नहीं है। जाल डालते समय एक मृतक मनुष्य मेरे जालमें आ गया। मैंने उसे बड़ा मत्स्य जानकर उठाया। जब मैंने देखा कि यह तो मुर्दा है, तब मेरे मनमें भय हुआ। जालसे निकालते समय उसके अङ्गसे मेरे अङ्गका स्पर्श हो गया। स्पर्शमात्रसे ही यह भूत मेरे शरीरमें प्रवेश कर गया। भयके कारण मेरे शरीरमें कँप-कँपी होने लगी, नेत्रोंसे जल बहने लगा और मेरी वाणी गद्‌गद हो गयी। या तो यह ब्रह्मदैत्य है या भूत है, इस बातको मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। वह दर्शनमात्रसे ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। उसका शरीर पाँच-सात हाथ लंबा है। उसके एक-एक हाथ पाँव तीन-तीन हाथ लंबे हैं। उसके हड्डियोंकी सन्धियाँ खुल गयी हैं। उसके शरीरके ऊपरका चर्म लुजुर-लुजुर-सा करता है। उसे देखकर किसीके भी प्राण नहीं रह सकते। बड़ा ही विचित्र रूप धारण किये है, दोनों नेत्र चढ़े हुए हैं। कभी तो गों-गों शब्द करता है और कभी फिर अचेतन हो जाता है।

इस बातको मल्लाहके मुखसे सुनकर स्वरूपगोस्वामी सब कुछ समझ गये कि वह महाप्रभुका ही शरीर होगा। उनके अङ्ग-स्पर्शसे ही इसकी ऐसी दशा हो गयी है। भयके कारण इसे पता नहीं कि यह प्रेमकी अवस्था है। यह सोचकर वे कहने लगे—‘तुम ओझाके पास क्यों जाते हो, हम बहुत अच्छी ओझाई जानते हैं। कैसा भी भूत क्यों

न हो, हमने जहाँ मन्त्र पढ़ा नहीं बस, वहीं उसी क्षण वह भूत भागता ही हुआ दिखायी देता है। फिर वह क्षणभर भी नहीं ठहरता।' ऐसा कहकर स्वरूपगोस्वामीने वैसे ही झूठ-मूँठ कुछ पढ़कर अपने हाथको उसके मस्तकपर छुआया और जोरोंसे उसके गालपर तीन तमाचे मारे। उसके ऊपर भूत थोड़े ही था। उसे भूतका भ्रम था, विश्वासके कारण वह भय दूर हो गया।

तब स्वरूपगोस्वामीने उससे कहा—'तू जिन्हें भूत समझ रहा है, वे महाप्रभु चैतन्यदेव हैं, प्रेमके कारण उनकी ऐसी दशा हो जाती है। तू उन्हें हमको बता कहाँ हैं। हम उन्हींकी खोजमें तो आये हैं।'

इस बातको सुनकर वह मल्लाह प्रसन्न होकर सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रभुके पास पहुँचा। भक्तोंने देखा, सुवर्णके समान प्रभुका शरीर चाँदीके चूरेके समान समुद्रकी बालुकामें पड़ा हुआ है, आँखें ऊपरको चढ़ी हुई हैं, पेट फूला हुआ है, मुँहमेंसे झाग निकल रहे हैं। बिना किसी प्रकारकी चेष्टा किये हुए उनका शरीर गीली बालुकासे सना हुआ निश्चेष्ट पड़ा हुआ है। सभी भक्त प्रभुको घेरकर बैठ गये।

हम संसारी लोग तो मृत्युको ही अन्तिम दशा समझते हैं, इसलिये संसारी दृष्टिसे प्रभुके शरीरका यहीं अन्त हो गया। फिर उसे चैतन्यता प्राप्त नहीं हुई। किन्तु रागानुगामी भक्त तो मृत्युके पश्चात् भी विरहिणीको चैतन्यता लाभ कराते हैं। उनके मतमें मृत्यु ही अन्तिम दशा नहीं है। इस प्रसङ्गमें हम बंगला भाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्री-गोविन्ददासजीका एक पद उद्धृत करते हैं। इससे पाठकोंको पता चल जायगा कि श्रीकृष्णनामश्रवणसे मृत्युदशाको प्राप्त हुई भी राधिकाजी फिरसे चैतन्यता प्राप्त करके बातें कहने लगीं।

कुञ्ज भवने धनी। तुया गुण गनि गनि।
अतिशय दुरबली भेल॥
दशमीक पहिल, दशा हेरि सहचरी।
धरे सबे बाहिर केल॥
शुन माधव कि कहब तोय।
गोकुल तरुणी, निचय मरण जानि।
राइ राइ करि रोय॥
तहि एक सुचतुरी, ताक श्रवण भरि।
पुन पुन कहे तुया नाम॥
बहु क्षणे सुन्दरी, पाइ परान फोरि।
गद्गद कहे श्याम नाम॥
नामक आछु गुणे, शुनिले त्रिभुवने।
मृतजने पुन कहे बात॥
गोविन्ददास कह, इह सब आन नह।
याइ देखह मझु साथ॥

श्रीकृष्णसे एक सखी श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—हे श्यामसुन्दर! राधिकाजी कुञ्जभवनमें तुम्हारे नामको दिन-रात रटते-रटते अत्यन्त ही दुबली हो गयी हैं। जब उनकी मृत्युके समीपकी दशा मैंने देखी तब उन्हें उस कुञ्जकुटीरसे बाहर कर लिया। प्यारे माधव! अब तुमसे क्या कहूँ, बाहर आनेपर उसकी मृत्यु हो गयी, सभी सखियाँ उसकी मृत्युदशाको देखकर रुदन करने लगीं। उनमें एक चतुर सखी थी, वह उसके कानमें तुम्हारा नाम बार-बार कहने लगी।

बहुत देरके अनन्तर उस सुन्दरीके शरीरमें कुछ-कुछ प्राणोंका संचार होने लगा। थोड़ी देरमें वह गद्गद कण्ठसे 'श्याम' ऐसा कहने लगी। तुम्हारे नामका त्रिभुवनमें ऐसा गुण सुना गया है कि मृत्यु-दशाको प्राप्त हुआ प्राणी भी पुनः बात कहने लगता है। सखी कहती है—'तुम इस बातको झूठ मत समझना। यदि तुम्हें इस बातका विश्वास न हो, तो मेरे साथ चलकर उसे देख आओ।' यह पद गोविन्ददास कवि-द्वारा कहा गया है।'

इसी प्रकार भक्तोंने भी प्रभुके कानोंमें हरिनाम सुनाकर उन्हें फिर जाग्रत किया। वे अर्धबाह्यदशामें आकर कालिन्दीमें होनेवाली जल-केलिका वर्णन करने लगे। 'वह साँवला सभी सखियोंको साथ लेकर यमुनाजीके सुन्दर शीतल जलमें घुसा। सखियोंके साथ वह नाना भाँति-की जलक्रीड़ा करने लगा। कभी किसीके शरीरको भिगोता, कभी दस-बीसोंको साथ लेकर उनके साथ दिव्य-दिव्य लीलाओंका अभिनय करता। मैं भी उस प्यारेकी क्रीड़ामें सम्मिलित हुई। वह क्रीड़ा बड़ी ही सुखकर थी।' इस प्रकार कहते-कहते प्रभु चारों ओर देखकर स्वरूपगोस्वामीसे पूछने लगे—'मैं यहाँ कहाँ आ गया? वृन्दावनसे मुझे यहाँ कौन ले आया?' तब स्वरूपगोस्वामीने सभी समाचार सुनाये और वे उन्हें स्नान कराकर भक्तोंके साथ वासस्थानपर ले गये।

महाप्रभुका अदर्शन अथवा लीलासंवरण

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः ।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम् ॥*

(सु० र० भां० १९० । १९१)

महाभारतमें स्थान-स्थानपर क्षात्रधर्मकी निन्दा की गयी । युद्धमें खड्ग लेकर जो क्षत्रिय अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंका बात-की-बातमें वध कर सकता है, ऐसे कठोर धर्मको धर्मराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माने परम निन्द्य बतलाकर भी उसमें प्रवृत्त होनेके लिये अपनी विवशता बतलायी है । किन्तु क्षात्रधर्मसे भी कठोर और क्रूर कर्म हम-जैसे क्षुद्र लेखकोंका है, जिनके हाथमें वज्रके समान बलपूर्वक लोहेकी लेखनी

* जो प्राणी आज ही जिस शरीरसे हँस रहे थे, सुन्दर-सुन्दर पद गा रहे थे, उत्तम-उत्तम श्लोकोंका पाठ कर रहे थे, वे ही न जाने आज ही कहाँ अदृश्य हो गये । अब उनका पाञ्चभौतिक शरीर दीखता ही नहीं । हा ! कराल कालकी कैसी कठोर और कष्टप्रद क्रीड़ा है । उसकी ऐसी चेष्टाको बार-बार धिक्कार है ।

दे दी जाती है और कहा जाता है कि उस महापुरुषकी अदर्शन-लीला लिखो! हाय! कितना कठोर कर्म है, हृदयको हिला देनेवाले इस प्रसङ्गका वर्णन हमसे क्यों कराया जाता है? कलतक जिसके मुखकमलको देखकर असंख्य भावुक भक्त भक्तिभागीरथीके सुशीतल और सुखकर सलिलरूपी आनन्दमें विभोर होकर अवगाहन कर रहे थे, उनके नेत्रोंके सामनेसे वह आनन्दमय दृश्य हटा दिया जाय, यह कितना गर्हणीय काम होगा। हाय रे विधाता! तेरे सभी काम निर्दयतापूर्ण होते हैं! निर्दयी! दुनियाभरकी निर्दयताका ठेका तैंने ही ले लिया है। भला, जिनके मनोहर चन्द्रवदनको देखकर हमारा मनकुमुद खिल जाता है, उसे हमारी आँखोंसे ओझल करनेमें तुझे क्या मजा मिलता है? तेरा इसमें लाभ ही क्या है? क्यों नहीं तू सदा उसे हमारे पास ही रहने देता? किन्तु कोई दयावान् हो उससे तो कुछ कहा-सुना भी जाय, जो पहलेसे ही निर्दयी है, उससे कहना मानो अरण्यमें रोदन करना है। हाय रे विधाता!

सचमुच लीलासंवरणके वर्णन करनेके अधिकारी तो व्यास-वाल्मीकि ही हैं। इनके अतिरिक्त जो नित्य महापुरुषोंकी लीलासंवरणका उल्लेख करते हैं, वह उनकी अनधिकार चेष्टा ही है। महाभारतमें जब अर्जुनकी त्रिभुवनविख्यात शूरता, वीरता और युद्धचातुर्यकी बातें पढ़ते हैं तो पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हमारी आँखोंके सामने लंबी-लंबी भुजाओंवाले गाण्डीवधारी अर्जुनकी वह विशाल और भव्य मूर्ति प्रत्यक्ष होकर नृत्य करने लगती है। उसीको जब श्रीकृष्णके अदर्शनके अनन्तर आभीर और भीलोंद्वारा लुटते देखते हैं, तो यह सब दृश्य-प्रपञ्च स्वप्नवत् प्रतीत होने लगता है। तब यह प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है कि यह सब उस खिलाड़ी श्रीकृष्णकी खिलवाड़ है, लीला-प्रियश्यामकी ललित लीलाके सिवा कुछ नहीं है। पाण्डवोंकी सब रिक्तता,

कष्टसहिष्णुता, शूरता, कार्यदक्षता, पटुता, श्रीकृष्णप्रियता आदि गुणोंको पढ़ते हैं तब रोंगटे खड़े हो जाते हैं, हृदय उनके लिये भर आता है, किन्तु उन्हें ही जब हिमालयमें गलते हुए देखते हैं, तो छाती फटने लगती है। सबसे पहले द्रौपदी बर्फमें गिर जाती है। उस कोमलाङ्गी अबलाको बर्फमें ही बिलबिलाती छोड़कर धर्मराज आगे बढ़ते हैं। वे मुड़कर भी उसकी ओर नहीं देखते। फिर प्यारे नकुल-सहदेव गिर पड़ते हैं। धर्मराज उसी प्रकार दृढ़तापूर्वक पर्वतपर चढ़ रहे हैं। हाय, गजब हुआ। जिस भीमके पराक्रमसे यह ससद्वीपा वसुमती प्राप्त हुई थी वह भी बर्फमें पैर फिसलनेसे गिर पड़ा और तड़पने लगा। किन्तु युधिष्ठिर किसकी सुनते हैं, वे आगे बढ़े ही जा रहे हैं। अब वह हृदय-विदारक दृश्य आया। जिसके नामसे मनुष्य तो क्या स्वर्गके देवता थर-थर काँपते थे, वह गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और हा तात! कहकर चीत्कार मारने लगा, किन्तु धर्मराजने मुड़कर भी उनकी ओर नहीं देखा!

सचमुच स्वर्गारोहणपर्वको पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसा भी वज्रहृदय क्यों न हो बिना रोये न रहेगा। जब मुझ-जैसे कठोर हृदयवालेकी आँखोंसे भी अश्रुबिन्दु निकल पड़े तब फिर सहृदय पाठकोंकी तो बात ही क्या?

इसी प्रकार जब वाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामकी सुकुमारता, शरणागतप्रियता, गुरुभक्ति, शूरता और पितृभक्तिकी बातें पढ़ते हैं तो हृदय भर आता है। सीताजीके प्रति उनका कैसा अगाध प्रेम था। हाय! जिस समय कामान्ध रावण जनकनन्दिनीको चुरा ले गया, तब उन मर्यादा-पुरुषोत्तमकी भी मर्यादा टूट गयी। वे अकेली जानकीके पीछे विश्व-ब्रह्माण्डको अपने अमोघ बाणके द्वारा भस्म करनेको उद्यत हो गये।

उस समय उनका प्रचण्ड क्रोध, दुर्धर्ष तेज और अवर्णनीय रोष देखते ही बनता था। दूसरे ही क्षण वे साधारण कामियोंकी भाँति रो-रोकर लक्ष्मणसे पूछने लगते—'भैया! मैं कौन हूँ, तुम कौन हो? हम यहाँ क्यों फिर रहे हैं? सीता कौन है? हा सीते! हा प्राणवल्लभे! तू कहाँ चली गयी?' ऐसा कहते-कहते बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। उनके अनुज ब्रह्मचारी लक्ष्मणजी बिना खाये-पीये और भूख-नींदका परित्याग किये छायाकी तरह उनके पीछे-पीछे फिरते हैं और जहाँ श्रीरामका एक बूँद पसीना गिरता है, वहाँ वे अपने कलेजेको काटकर उसका एक प्याला खून निकालकर उससे उस स्वेद-बिन्दुको धोते हैं। उन्हीं लक्ष्मणको जब श्रीरामचन्द्रजीने छद्मवेषधारी यमराजके कहनेसे परित्याग कर दिया और वे श्रीरामके प्यारे भाई सुमित्रानन्दन महाराज दशरथके प्रिय पुत्र सरयू नदीमें निमग्नकर अपने प्राणोंको खोते हैं तो हृदय फटने लगता है। उससे भी अधिक करुणापूर्ण तो यह दृश्य है कि जब श्रीरामचन्द्रजी भी अपने भाइयोंके साथ उसी प्रकार सरयूमें शरीरको निमग्नकर अपने नित्यधामको पधारते हैं। सचमुच इन दोनों महाकवियोंने इन करुणापूर्ण प्रसङ्गोंको लिखकर करुणाकी एक अविच्छिन्न धारा बहा दी है जो इन ग्रन्थोंके पठन करनेवालोंके नेत्र-जलसे सदा बहती ही रहती है। महाभारत और रामायणके ये ही दो स्थल मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, इन्हीं हृदयविदारक प्रकरणोंको जब पढ़ता हूँ, तभी कुछ हृदय पसीजता है और श्रीराम-कृष्णकी लीलाओंकी कुछ-कुछ झलक-सी दिखायी देने लगती है।

यह हम-जैसे नीरस हृदयवालोंके लिये है। जो भगवत्-कृपापात्र हैं, जिनके हृदय कोमल हैं, जो सरस हैं, भावुक हैं, प्रेमी हैं और श्रीराम-कृष्णके अनन्य उपासक हैं, उन सबके लिये तो ये प्रकरण अत्यन्त ही असह्य हैं। उनके मनमें तो श्रीराम-कृष्णका कभी अदर्शन हुआ ही नहीं, वे नित्य

हैं, शाश्वत हैं। जगत्‌से नहीं, वे शरीरसे भी अभी ज्यों-के-त्यों ही विराजमान हैं। इसीलिये श्रीमद्वाल्मीकीयके पारायणमें उत्तरकाण्ड छोड़ दिया जाता है। वैष्णवगण राजगद्दी होनेपर ही रामायणकी समाप्ति समझते हैं और वहीं रामायणका नवाह समाप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो इस प्रकरणको एकदम छोड़ ही दिया है। भला वे अपनी कोमल और भक्तिभरी लेखनीसे सीतामाताका परित्याग, उनका पृथ्वीमें समा जाना और गुप्तारघाटपर रामानुज लक्ष्मणका अन्तर्धान हो जाना इन हृदयविदारक प्रकरणोंको कैसे लिख सकते थे।

इसी प्रकार श्रीचैतन्यचरित्रलेखकोंने भी श्रीचैतन्यकी अन्तिम अदर्शन-लीलाका वर्णन नहीं किया है। सभी इस विषयमें मौन ही रहे हैं। हाँ 'चैतन्यमंगल' कारने कुछ थोड़ा-सा वर्णन अवश्य किया है, सो अदर्शन-की दृष्टिसे नहीं। उसमें श्रीचैतन्यदेवके सम्बन्धकी सब बातोंकी अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाओंका ही वर्णन किया गया है। इसीलिये उनका शरीर साधारण लोगोंकी भाँति शान्त नहीं हुआ, इसी दृष्टिसे अलौकिक घटना ही समझकर उसका वर्णन किया गया है। नहीं तो सभी वैष्णव इस शुभकदायी प्रसङ्गको सुनना नहीं चाहते। कोमल प्रकृतिके वैष्णव भला इसे सुन भी कैसे सकते हैं? इसीलिये एक भौतिक घटनाओंको ही सत्य और इतिहास माननेवाले महानुभावने लिखा है कि 'श्रीचैतन्यदेवके भक्तोंकी अन्धभक्तिने श्रीचैतन्यदेवकी मृत्युके सम्बन्धमें एकदम पर्दा डाल दिया है।' उन भोले भाईको यह पता नहीं कि चैतन्य तो नित्य हैं। भला चैतन्यकी भी कभी मृत्यु हो सकती है। जिस प्रकार अग्नि कभी नहीं बुझती उसी प्रकार चैतन्य भी कभी नहीं मरते। अज्ञानी पुरुष ही इन्हें बुझा और मरा हुआ समझते हैं। अग्नि तो सर्वव्यापक है, विश्व उसीके ऊपर अवलम्बित है। संसारमेंसे अग्नितत्त्व निकाल दीजिये

उसी क्षण प्रलय हो जाय। शरीरके पेटकी अग्निको शान्त कर दीजिये उसी क्षण शरीर ठंढा हो जाय। सर्वव्यापक अग्निके ही सहारे यह विश्व खड़ा है। वह हमें इन चर्म-चक्षुओंसे सर्वत्र प्रत्यक्ष नहीं दीखती। दो लकड़ियोंको घिसिये, अग्नि प्रत्यक्ष हो जायगी। इसी प्रकार चैतन्य सर्वत्र व्यापक हैं। त्याग, वैराग्य और प्रेमका अवलम्बन कीजिये,चैतन्य प्रत्यक्ष होकर ऊपरको हाथ उठा-उठाकर नृत्य करने लगेंगे। जिसका जीवन अग्निमय हो, जो श्रीकृष्णप्रेममें छटपटाता-सा दृष्टिगोचर होता हो, जिसके शरीरमें त्याग, वैराग्य और प्रेमने घर बना लिया हो, जो दूसरोंकी निन्दा और दोष-दर्शनसे दूर रहता हो, वहाँ समझ लो कि श्रीचैतन्य वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये हैं। यदि सचमुच चैतन्यके दर्शन करनेके तुम उत्सुक हो तो इन्हीं स्थानोंमें चैतन्यके दर्शन हो सकेंगे। किन्तु ये सब बातें तो ज्ञानकी हैं। भक्तको इतना अवकाश कहाँ कि वह इन ज्ञानगाथाओंको श्रवण करे। वह तो श्रीचैतन्य-चरित्र ही सुनना चाहता है। उसमें इतना पुरुषार्थ कहाँ? उसका पुरुषार्थ तो इतना ही है कि वह भक्तरूपमें या भगवान्‌रूपमें श्रीकृष्णने जो-जो लीलाएँ की हैं उन्हींको बार-बार सुनना चाहता है। उसकी इच्छा नहीं कि सभी लीलाओंको सुन ले। श्रीकृष्णकी सभी लीलाओंका पार तो वे स्वयं ही नहीं जानते फिर दूसरा कोई तो जान ही क्या सकता है? भक्त तो चाहता है, चाहे कूपसे ला दो या घड़ेसे हमारी तो एक लोटेकी प्यास है, नदीसे लाओगे तो भी एक ही लोटा पीवेंगे और घड़ेसे दोगे तो भी उतना ही। समुद्रमेंसे लाओ तो सम्भव है हमसे पिया भी न जाय। क्योंकि उसका पान तो कोई अगस्त्य-जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं। इसलिये भावुक भक्त सदा श्रीकृष्ण और उनके दूसरे स्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तोंकी ही लीलाओंका श्रवण करते रहते हैं। उनका कोमल

हृदय इन अप्रकट और अदर्शन लीलाओंको श्रवण नहीं कर सकता, क्योंकि शिरीषकुसुमके समान, छुईमुईके पत्तोंके समान उनका शीघ्र ही द्रवित हो जानेवाला हृदय होता है। यह बात भी परम भावुक भक्तोंकी है, किन्तु हम-जैसे वज्रके समान हृदय रखनेवाले पुरुष क्या करें? भक्तका तो लक्षण ही यह है कि भगवत्प्रेमके श्रवणमात्रसे ही चन्द्रकान्त-मणिके समान उसके दोनों नेत्र बहने लगें। आँसू ही भक्तका आभूषण है, आँसूमें ही श्रीकृष्ण छिपे रहते हैं। जिस आँखमें आँसू नहीं वहाँ श्रीकृष्ण नहीं। तब हम कैसे करें, हमारी आँखोंमें तो आँसू आते ही नहीं। हाँ, ऐसे-ऐसे हृदयविदारक प्रकरणोंको कभी पढ़ते हैं तो दो-चार बूँदें आप-से-आप ही निकल पड़ती हैं, इसलिये भक्तोंको कष्ट देनेके निमित्त नहीं, अपनी आँखोंको पवित्र करनेके निमित्त, अपने वज्रके समान हृदयको पिघलानेके निमित्त हम यहाँ अति संक्षेपमें श्रीचैतन्य-देवके अदर्शनका यत्किञ्चित् वृत्तान्त लिखते हैं।

चौबीस वर्ष नवद्वीपमें रहकर गृहस्थाश्रममें और चौबीस वर्ष संन्यास लेकर पुरी आदि तीर्थोंमें प्रभुने बिताये। संन्यास लेकर छः वर्षोंतक आप तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे और अन्तमें अठारह वर्षोंतक अचल जगन्नाथजीके रूपमें पुरीमें ही रहे। बारह वर्षोंतक निरन्तर दिव्योन्मादकी दशामें रहे। उसका यत्किञ्चित् आभास पाठकोंको पिछले प्रकरणोंमें मिल चुका है। जिन्होंने प्रार्थना करके प्रभुको बुलाया था उन्होंने ही अब पहेली भेजकर गौरहाट उठानेकी अनुमति दे दी। इधर स्नेहमयी शचीमाता भी इस संसारको त्यागकर परलोकवासिनी बन गयीं। श्रीचैतन्य जिस कार्यके लिये अवतरित हुए थे, वह कार्य भी सुचारुरीतिसे सम्पन्न हो गया। अब उन्होंने लीलासंवरण करनेका निश्चय कर लिया। उनके अन्तरङ्ग भक्त तो प्रभुके रंग-ढंगको ही देखकर अनुमान लगा रहे थे कि

अब इससे ओझल होना चाहते हैं। इसलिये वे सदा सचेष्ट ही बने रहते थे।

शाके १४५५ (संवत् १५९०, ई० सन् १५३३) का आषाढ़ महीना था। रथयात्राका उत्सव देखनेके निमित्त गौड़देशसे कुछ भक्त आ गये थे। महाप्रभु आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा अत्यधिक गम्भीर थे। भक्तोंने इतनी अधिक गम्भीरता उनके जीवनमें कभी नहीं देखी। उनके ललाटसे एक अद्भुत तेज-सा निकल रहा था, अत्यन्त ही दत्तचित्त होकर प्रभु स्वरूपगोस्वामीके मुखसे श्रीकृष्णकथा श्रवण कर रहे थे। सहसा वे वैसे ही जल्दीसे उठकर खड़े हो गये और जल्दीसे अकेले ही श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर दौड़ने लगे। भक्तोंको परम आश्चर्य हुआ। महाप्रभु इस प्रकार अकेले मन्दिरकी ओर कभी नहीं जाते थे, इसलिये भक्त भी पीछे पीछे प्रभुके पादपद्मोंका अनुसरण करते हुए दौड़ने लगे। आज महाप्रभु अपने नित्यके नियमित स्थानपर—गरुड़स्तम्भके समीप नहीं रुके, वे सीधे मन्दिरके दरवाजेके समीप चले गये। सभी परम विस्मित-से हो गये। महाप्रभुने एक बार द्वारपरसे ही उचककर श्रीजगन्नाथजीकी ओर देखा और फिर जल्दीसे आप मन्दिरमें घुस गये। महान् आश्चर्य! अघटित घटना! ऐसा पहले कभी भी नहीं हुआ था। मन्दिरके सभी कपाट अपने-आप ही बंद हो गये, महाप्रभु अकेले ही मन्दिर-के भीतर थे। सभी भक्तगण चुपचाप दरवाजेपर खड़े इस अलौकिक दृश्यको उत्सुकताके साथ देख रहे थे। गुञ्जाभवनमें एक पूजा करनेवाले भाग्यवान् पुजारी प्रभुकी इस अन्तिम लीलाको प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने देखा, महाप्रभु जगन्नाथजीके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हैं और गद्गद-कण्ठसे प्रार्थना कर रहे हैं—

प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके विग्रहका आलिङ्गन किया

'हे दीनवत्सल प्रभो ! हे दयामय देव ! हे जगत्पिता जगन्नाथदेव ! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंमें कलियुगका एकमात्र धर्म श्रीकृष्णसंकीर्तन ही है । हे नाथ ! आप अब जीवोंपर ऐसी दया कीजिये कि वे निरन्तर आपके सुमधुर नामोंका सदा कीर्तन करते रहें । प्रभो ! अब घोर कलियुग आ गया है, इसमें जीवोंको आपके चरणोंके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं । इन अनाश्रित जीवोंपर कृपा करके अपने चरणकमलोंका आश्रय प्रदान कीजिये ।' बस, इतना कहते-कहते प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके श्रीविग्रहको आलिङ्गन किया और उसी क्षण आप उसमें लीन हो गये ।

पुजारी जल्दीसे यह कहता हुआ—'प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं, दयालो ! यह आपकी कैसी लीला है' जल्दीसे प्रभुको पकड़नेके लिये दौड़ा । किन्तु प्रभु अब यहाँ कहाँ ! वे तो अपने असली स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये । पुजारी मूर्छित होकर गिर पड़ा और हा देव ! हे प्रभो ! हे दयालो ! कहकर जोरोंसे चीत्कार करने लगा । द्वारपर खड़े हुए भक्तोंने पुजारीका करुणाक्रन्दन सुनकर जल्दीसे किवाड़ खोलनेको कहा, किन्तु पुजारीको होश कहाँ ! जैसे-तैसे बहुत कहने-सुननेपर पुजारीने किवाड़ खोले । भक्तोंने मन्दिरमें प्रवेश किया और प्रभुको वहाँ न देखकर अधीर होकर वे पूछने लगे—'प्रभु कहाँ हैं ?' पुजारीने लड़खड़ाती हुई वाणीमें रुक-रुककर सभी कहानी कह सुनायी । सुनते ही भक्तोंकी जो दशा हुई, उसका वर्णन यह काले मुखकी लेखनी भला कैसे कर सकती है ! भक्त पछाड़ खा-खाकर गिरने लगे, कोई दीवारसे सिर रगड़ने लगा। कोई पत्थरसे माथा फोड़ने लगा । कोई रोते-रोते धूलिमें लोटने लगा । स्वरूपगोस्वामी तो प्रभुके बाहरी प्राण ही थे । वे प्रभुके वियोगको कैसे सह सकते थे । वे चुपचाप स्तम्भित भावसे खड़े रहे । उनके पैर लड़खड़ाने

लगे। भक्तोंने देखा उनके मुँहसे कुछ धुआँ-सा निकल रहा है। उसी समय फटसे एक आवाज हुई। स्वरूपगोस्वामीका हृदय फट गया और उन्होंने भी उसी समय प्रभुके ही पथका अनुसरण किया।

भक्तोंको जगन्नाथपुरी अब उजड़ी हुई नगरी-सी मालूम हुई। किसीने तो उसी समय समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दिये। किसीने कुछ किया, और बहुत-से पुरीको छोड़कर विभिन्न स्थानोंमें चले गये। पुरीसे अब गौरहाट उठ गयी। वक्रेश्वर पण्डितने फिर उसे जमानेकी चेष्टा की, किन्तु उसका उल्लेख करना विषयान्तर हो जायगा। किसीके जमानेसे हाट थोड़े ही जमती है, लाखों मठ हैं और उनके लाखों ही पैर पुजानेवाले महन्त हैं, उनमें वह चैतन्यता कहाँ? साँप तो निकल गया, पीछेसे लकीरको पीटते रहो। इससे क्या? इस प्रकार अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामपर प्रेमरूपी अमृतकी वर्षा करनेके पश्चात् महाप्रभु अपने सत्स्वरूपमें जाकर अवस्थित हो गये। बोलो प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवकी जय! बोलो उनके सभी प्रिय पार्षदोंकी जय! बोलो भगवन्नामप्रचारक श्रीगौरचन्द्रकी जय!

नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(श्रीमद्भागवत १२।१३।२३)

'जिसके नामका सुमधुर संकीर्तन सर्व पापोंका नाश करनेवाला है और जिसको प्रणाम करना सकल दुःखोंका नाश करनेवाला है उन सर्वोत्तम श्रीहरिके पादपद्मोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।'

इति शम्

श्रीमती विष्णुप्रियादेवी

गौरशक्तिं महामायां नवद्वीपनिवासिनीम्।
विष्णुप्रियां सतीं साध्वीं तां देवीं प्रणतोऽस्म्यहम्॥*

(म० द० ब०)

यह विश्व महामाया शक्तिके ही अवलम्बसे अवस्थित है। शक्ति-हीन संसारकी कल्पना ही नहीं हो सकती। सर्वशक्तिमान् शिव भी शक्तिके बिना शव बने पड़े रहते हैं। जब उनके अचेतन शवमें शक्ति-देवीका सञ्चार होता है, तभी वे शवसे शिव बन जाते हैं। शक्ति प्रच्छन्न रहती है और शक्तिमान् प्रकट होकर प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। यथार्थमें तो उस शक्तिकी ही साधना कठोर है। वनवासी वीतरागी विरक्त तपस्वियोंकी अपेक्षा छिपकर साधना करनेवाली सती-साध्वी, शक्तिरूपिणी देवीकी तपस्याको मैं अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ। हृदयपर हाथ रखकर उस सतीकी तपश्चर्याकी कल्पना तो कीजिये, जो संसारमें रहकर भी संसारसे एकदम पृथक् रहती है। उसका सम्पूर्ण संसार पतिकी मनोहर मूर्तिमें ही सन्निहित हो जाता है। उसकी सभी इन्द्रियोंके व्यापार, चित्त और मनकी क्रियाएँ एकमात्र पतिके ही लिये होती हैं। पतिके रूपका चिन्तन ही उसके मनका आहार बन जाता है। अहा! कितनी ऊँची स्थिति होती होगी, क्या कोई शरीरको सुखाकर ही अपनेको कृतकृत्य समझनेवाला तपस्वी इस भयङ्कर तपस्याका अनुमान लगा सकता है?

---

* नवद्वीपमें निवास करनेवाली श्रीगौराङ्गदेवकी शक्ति महामायास्वरूपिणी सती-साध्वी श्रीविष्णुप्रियादेवीको मैं प्रणाम करता हूँ।

भगवान् बुद्धदेवके राज्य-त्यागकी सभी प्रशंसा करते हैं, किन्तु उस साध्वी गोपाका कोई नाम भी नहीं जानता जो अपने पाँच वर्षके पुत्र राहुलको संन्यासी बनाकर स्वयं भी राजमहल परित्याग करके अपने पति भगवान् बुद्धदेवके साथ भिक्षुणीवेषमें द्वार-द्वार भिक्षा माँगती रही। परमहंस रामकृष्णदेवके वैराग्यकी बात सर्वोपर विदित है, किन्तु उस भोली बाला शारदादेवीका नाम बहुत कम लोग जानते हैं जो पाँचवर्षकी अबोध बालिकाकी दशामें अपने पितृगृहको परित्याग करके अपने पगले पतिके घरमें आकर रहने लगी। परमहंसदेवने जब प्रेमके पागलपनमें संन्यास लिया था, तब वह जगन्माता पूर्ण युवती थी। अपने पतिके पागलपनकी बातें सुनकर वह लोकलाजकी कुछ भी परवा न करके अपने संन्यासी स्वामीके साथ रहने लगी। कल्पना तो कीजिये। युवावस्था रूपलावण्ययुक्त परम रूपवान् पुरुषकी सेवा, सो भी एकान्तमें और वह भी पादसेवाका गुरुतर कार्य। परम आश्चर्यकी बात तो यह है कि वह पुरुष भी परपुरुष नहीं अपना सगा स्वामी ही है, जिसपर भी किसी प्रकारका विकार मनमें न आना। 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' * कहनेवाले ये बधि कल्पना करें कि क्या ऐसी घोर तपस्या पञ्चाग्नि तापने और सीतमें सैकड़ों वर्षोंतक जलमें खड़े रहनेवाली तपस्यासे कुछ कम है? अहा! ऐसी सती-साध्वी देवियोंके चरणोंमें हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हैं। महाप्रभुके त्याग-वैराग्यका वृत्तान्त तो पाठक पिछले प्रकरणोंमें पढ़ ही चुके हैं, किन्तु उनसे भी बढ़कर त्याग और वैराग्य श्रीमती विष्णुप्रिया-जीका था। प्रभुका साधन सभी भक्तोंके समक्षमें हुआ, इससे भक्तोंके द्वारा वह संसारको विदित हो गया परन्तु श्रीविष्णुप्रियाजीकी साधना घरके भीतर एक गहरे कोनेमें नर-नारियोंकी दृष्टिसे एकदम अलग हुई इसलिये वह उतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकी। उनकी साधनाका

* स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा अठगुना कामोद्वेग बताया जाता है।

जो भी कुछ थोड़ा-बहुत समाचार मिलता है, उसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या कोई भी व्यक्ति इस प्रकारकी कठोरता कर सकता है ? अबला कही जानेवाली नारी-जातिके द्वारा क्या इतनी तीव्रतम तपस्या सम्भव हो सकती है ? किन्तु इसमें अविश्वासकी तो कोई बात ही नहीं ! अद्वैताचार्यजीके प्रिय शिष्य ईशान नागरने प्रत्यक्ष देखकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैत-प्रकाश' में इसका उल्लेख किया है। उस कठोरताकी कथाको सुनकर तो कठोरताका भी हृदय फटने लगेगा। बड़ी ही करुण कहानी है।

महाप्रभु संन्यास लेकर गृहत्यागी वैरागी बन गये, उससे उस पतिप्राणा प्रियाजीको कितना अधिक क्लेश हुआ होगा, यह विषय अवर्णनीय है। मनुष्यकी शक्तिके बाहरकी बात है। एक बार वृन्दावन जाते समय केवल विष्णुप्रियाजीकी ही तीव्र विरहवेदनाको शान्त करनेके निमित्त क्षणभरके लिये प्रभु अपने पुराने घरपर पधारे थे। उस समय विष्णुप्रियाजीने अपने संन्यासी पतिके पादपद्मोंमें प्रणत होकर उनसे जीवनालम्बनके लिये किसी चिह्नकी याचना की थी। दयामय प्रभुने अपने पादपद्मोंकी पुनीत पादुकाएँ उसी समय प्रियाजीको प्रदान की थीं और उन्हींके द्वारा जीवन धारण करते रहनेका उपदेश किया था। पतिकी पादुकाओंको पाकर पतिपरायणा प्रियाजीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई और उन्हींको अपने जीवनका सहारा बनाकर वे इस पाञ्चभौतिक शरीरको टिकाये रहीं। उनका मन सदा नीलाचलके एक निभृत स्थानमें किन्हीं अरुण रंगवाले दो चरणोंके बीचमें भ्रमण करता रहता। शरीर यहाँ नवद्वीपमें रहता, उसके द्वारा वे अपनी वृद्धा सासकी सदा सेवा करती रहतीं। शचीमाताके जीवनका एकमात्र अवलम्बन अपनी प्यारी पुत्र-वधूका कमलके समान म्लान मुख ही था। माता उस म्लान मुखको विकसित और प्रफुल्लित करनेके लिये भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करतीं।

पुत्रवधूके सुवर्णके समान शरीरको सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे सजातीं। प्रभुके भेजे हुए जगन्नाथजीके बहुत ही मूल्यवान् पट्टवस्त्रको वे उन्हें पहनातीं तथा और भी विविध प्रकारसे उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करतीं। किन्तु विष्णुप्रियाजीकी प्रसन्नता तो पुरीके गम्भीरा मन्दिर-के किसी कोनेमें विरक्त रही है, वह नवद्वीपमें कैसे आ जाय। शरीर तो उसके एक ही है, इसीलिये इन वस्त्राभूषणोंसे विष्णुप्रियाजीको अणुमात्र भी प्रसन्नता न होती। वे अपनी वृद्धा सासकी आज्ञाको उल्लङ्घन नहीं करना चाहती थीं। प्रभुके प्रेषित प्रसादी पट्टवस्त्रका अपमान न हो, इस भयसे वे उस मूल्यवान् वस्त्रको भी धारण कर लेतीं, और आभूषणोंको भी पहन लेतीं किन्तु उन्हें पहनकर वे बाहर नहीं जाती थीं।

प्रभुका पुराना भृत्य ईशान अभीतक प्रभुके घरपर ही था। शचीमाता उसे पुत्रकी भाँति प्यार करतीं। वही प्रियाजी तथा माताजीकी सभी प्रकार-की सेवा करता था। ईशान बहुत वृद्ध हो गया था, इसीलिये प्रभुने वंशीवदन नामक एक ब्राह्मणको माताकी सेवाके निमित्त और भेज दिया था। ये दोनों ही तन-मनसे माता तथा प्रियाजीकी सभी सेवा करते थे। प्रियाजीके पास काञ्चना नामकी एक उनकी सेविका सखी थी, वह सदा प्रियाजीके साथ ही रहती और उनकी हर प्रकारकी सेवा करती। दामोदर पण्डित भी नवद्वीपमें ही रहकर माताकी देख-रेख करते रहते और बीच-बीचमें पुरी जाकर माताजी तथा प्रियाजीका सभी संवाद सुना आते। विष्णुप्रियाजी उन दिनों घोर त्यागमय जीवन बिताती थीं। दामोदर पण्डितके द्वारा प्रभु जब इनके घोर वैराग्य और कठिन तपका समाचार सुनते तब वे मन-ही-मन अत्यधिक प्रसन्न होते।

विष्णुप्रियाजीका एकमात्र अवलम्बन वे प्रभुकी पुनीत पादुकाएँ ही थीं। अपने पूजागृहमें वे एक उच्चासनपर उन पादुकाओंको पधराये

हुए थीं और नित्यप्रति धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे उनकी पूजा किया करती थीं। वे निरन्तर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इसी महामन्त्रको जपती रहतीं। उन्होंने अपना आहार बहुत ही कम कर दिया था, किन्तु शचीमाताके आग्रहसे वे कभी-कभी कुछ अधिक भोजन कर लेती थीं।

पुत्रशोकसे जर्जरित हुई वृद्धा माताका हृदय फट गया था। पुत्रकी दिव्योन्मादकारी अवस्था सुनकर तो उसके घायल हृदयमें मानो किसीने विषसे बुझे हुए बाण वेध दिये हों। एक दिन माताने अधीर होकर भक्तोंसे कहा—'निमाईके विरहदुःखकी ज्वाला अब मेरे अन्तःकरणको तीव्रताके साथ जला रही है, अब मेरा यह पार्थिव शरीर टिक न सकेगा, इसलिये तुम मुझे भगवती भागीरथीके तटपर ले चलो।' भक्तोंने जगन्माताकी आज्ञाका पालन किया और वे स्वयं अपने कन्धोंपर पालकी रखकर माताको गङ्गाकिनारे ले गये। पीछेसे पालकीपर चढ़कर विष्णुप्रियाजी भी वहाँ पहुँच गयीं। पुत्रशोकसे तड़फड़ाती हुई माताने अपनी प्यारी पुत्रवधूको अपने पास बुलाया। उसके हाथको अपने हाथसे धीरे-धीरे पकड़कर माताने कष्टके साथ पुत्रवधूका माथा चूमा और उसे कुछ उपदेश करके इस नश्वर शरीरको त्याग दिया। शचीमाताके वैकुण्ठगमनसे सभी भक्तोंको अपार दुःख हुआ। शवकी क्रिया कराकर प्रियाजी घर लौटीं। अब वे नितान्त अकेली रह गयी थीं। ईशान माताके पहले ही परलोकवासी बन चुका था, उसे अपनी स्नेहमयी माताका यह हृदय-विदारक दृश्य अपनी आँखोंसे नहीं देखना पड़ा। घरमें वंशीवदन था, और दामोदर पण्डित भी गृहके कार्योंकी देख-रेख करते थे। विष्णु-

प्रियाजीका वैराग्य अब और भी अधिक बढ़ गया, अब वे दिनरात्रि अपने प्राणनाथके विरहमें तड़पती रहती थीं। अभीतक माताके वियोगका दुःख कम नहीं हुआ था कि प्रियाजीको यह हृदयविदारक समाचार मिला कि श्रीगौर अपनी लीलाको संवरण करके अपने नित्यधामको चले गये। इस दुःखद समाचारको सुनकर तपस्विनी विष्णुप्रियाजी, कटे हुए केलेके वृक्षके समान भूमिपर गिर पड़ीं। उन्होंने अन्न-जलका एकदम परित्याग कर दिया। स्वामिनी-भक्त वंशीवदन ऐसी दशामें कैसे अन्नग्रहण करता। यह प्रियाजीका मन्त्रशिष्य भी था, इसलिये उसने भी अपने मुँहमें अन्नका दाना नहीं दिया। भक्तोंने आकर भाँति-भाँतिकी विनती की, किन्तु प्रियाजीने अन्न-जल ग्रहण करना स्वीकार ही नहीं किया। जब स्वप्नमें आकर प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्गदेवने उनसे अभी कुछ दिन और शरीर धारण करनेकी आज्ञा दी, तब उन्होंने थोड़ा अन्न ग्रहण किया।

एक दिन प्रियाजी भीतर शयन कर रही थीं, वंशीवदन बाहर बरामदेमें सो रहा था। उसी समय स्वप्नमें उन्होंने देखा—मानो प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्ग आकर कह रहे हैं—'जिस नीमके नीचे मैंने माताके स्तनका पान किया था, उसीके नीचे मेरी काठकी मूर्ति स्थापित करो। मैं उसीमें आकर रहूँगा।' विष्णुप्रियादेवी उसी समय चौंककर उठ बैठीं, प्रातःकाल होनेको था, वंशीवदन भी जाग गया और उसने भी उसी क्षण ठीक यही स्वप्न देखा था। जब दोनोंने परस्पर एक दूसरेको स्वप्नकी बात सुनायी, तब तो शीघ्र ही दारुमयी मूर्तिकी स्थापनाका आयोजन होने लगा। वंशीवदनने उसी नीमकी एक सुन्दर लकड़ी कटवाकर बढ़ईसे एक बहुत ही सुन्दर श्रीगौराङ्गकी मूर्ति बनवायी। पंद्रह दिनमें मूर्ति बनकर तैयार हो गयी, वंशीवदनने लोहेकी शलाकासे उसपर अपना नाम खोदा। जब वस्त्राभूषण पहनाकर श्रीगौराङ्गविग्रहको सिंहासनपर पधराया गया, तब सभीको उसमें प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्गकेदर्शन होने लगे। वंशी-

वदनने दूर-दूरसे भक्तोंको बुलाकर खूब धूमधामसे उस मूर्तिकी प्रतिष्ठा की और एक बड़ा भारी भण्डारा किया। देवी विष्णुप्रियाजीने श्रीविग्रहकी नित्य-नैमित्तिक पूजाके निमित्त अपने भाई तथा भाईके पुत्र यादव-नन्दनको मन्दिरमें नियुक्त किया। श्रीविष्णुप्रियाजी नित्यप्रति मन्दिरमें दर्शन करनेके निमित्त आया करती थीं और वंशीवदन भी उस मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे परम प्रसन्न होता था। वह मूर्ति अबतक श्रीनवद्वीपमें विराजमान है और उनके गोस्वामी पुजारी उन्हीं श्रीयादवनन्दनाचार्य-के वंशजोंमेंसे होते हैं। आजकल वे सभी श्रीमान् और धन-सम्पन्न हैं, भक्तोंमें वे महाप्रभुके स्यालकवंश गोस्वामी बोले जाते हैं।

कुछ कालके अनन्तर वंशीवदन भी इस असार संसारको परित्याग करके परलोकवासी बन गये। अब प्रियाजीकी सभी सेवाका भार वृद्ध दामोदर पण्डितके ही ऊपर पड़ा। अपने प्रिय शिष्यके वियोगसे प्रियाजीको अत्यधिक क्लेश हुआ, और अब उन्होंने घरसे बाहर निकलना भी बंद कर दिया। पहले अँधेरेमें काञ्चनाके साथ गङ्गास्नान करनेके निमित्त घाटपर चली जाती थीं, अब घरमें ही गङ्गाजल मँगाकर स्नान करने लगीं। कोई भी पुरुष उनके दर्शन नहीं कर सकता था। उन्होंने वैसे तो पर-पुरुषसे जीवनभरमें कभी बातें नहीं कीं, किन्तु अब उन्होंने भक्तोंको भी दर्शन देना बंद कर दिया। शामके समय पर्देकी आड़मेंसे भक्तोंको उनके चरणोंके दर्शन होते थे, उन अरुण रंगके कोमल चरण-कमलोंके दर्शनसे ही भक्त अपनेको कृतकृत्य समझते।

श्रीमद् अद्वैताचार्यजी अभीतक जीवित थे। वृद्धावस्थाके कारण उनका शरीर बहुत ही अधिक जर्जरित हो गया था। उन्होंने जब प्रिया-जीके ऐसे कठोर तपकी बात सुनी, तब तो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य ईशान नागरको प्रियाजीका समाचार लेनेके निमित्त नवद्वीप भेजा। शान्ति-

पुरसे नागर महाशय आये। यहाँ दामोदर पण्डित और श्रीवास पण्डितसे मिलकर उन्होंने जगन्माता श्रीविष्णुप्रियाजीके दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की। दामोदर पण्डित ईशान नागरको प्रियाजीके अन्तःपुरमें ले गये, और वे प्रियाजीके चरणकमलोंके दर्शनोंसे कृतार्थ हुए। उन दिनों प्रियाजीका तप अलौकिक ही रहा था। वे सदा पूजामन्दिरमें ही बैठी रहतीं। एक पात्रमें चावल भरकर सामने रख लेतीं और दूसरे पात्रको खाली ही रखतीं। प्रातःकाल स्नान करके वे महामन्त्रका जप करने बैठतीं। एक बार—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह सोलह नामोंवाला मन्त्र कह लिया और एक चावल उस खाली पात्रमें डाल दिया। इस प्रकार तीसरे पहरतक वे निरन्तर जप करती रहतीं। जपकी संख्याके साथ गिने हुए उतने ही चावलोंको तीसरे पहर बनातीं। उनमें न तो नमक डालतीं और न दाल बनातीं। बस, उन्हींमेंसे थोड़े-से चावल भोग लगाकर प्रसादरूपमें स्वयं पा लेतीं, और शेष थोड़े-से भक्तोंको प्रसाद बाँटनेके निमित्त थालीमें छोड़ देतीं, जिसे काञ्चना भक्तोंमें बाँट देती। पाठक, अनुमान तो लगावें। बत्तीस अक्षरवाले इस मन्त्रको जपनेसे कितने चावल तीसरे पहरतक होते होंगे, उन्हें ही बिना दाल-सागके पाना और प्रसादके लिये शेष भी छोड़ देना। अल्पाहारकी यही हद हो गयी। ईशान नागरने अपने 'चैतन्यप्रकाश' नामक ग्रन्थमें स्वयं वर्णन किया है—

विष्णुप्रिया माता शचीदेवीर अन्तर्धाने।
भक्तद्वारे द्वारपद कैला स्वेच्छाक्रमे॥
तार आज्ञा बिना तार्ने निषेध दर्शने।
अत्यन्त कठोर व्रत करिला धारणे॥

सम्पूर्णते स्नान करि कृताह्निक हय्या।
हरिनाम करि किछु तण्डुल लइया॥
नाम प्रति एक तण्डुल मृत-पात्रे राखय।
हेन मते तृतीय प्रहर नाम लय॥
पश्चात्ते सेइ संख्यार तण्डुल मात्र लय्या।
यत्ने पाक करे मुख वस्त्रेते बान्धिया॥
अलवण अनुपकरण अन्न लय्या।
महाप्रभुर भोग लगाय काकुति करिया॥
विविध विलाप करि दिया आचमनी।
मुष्टिक-प्रसाद मात्र भुञ्जेन आपनि॥
अवशेषे प्रसादान्न विलाय सबारे।
एछन कठोर व्रत के करिते पारे॥

अर्थात् शचीमाताके अन्तर्धान हो जानेके अनन्तर श्रीविष्णुप्रिया-देवी भक्तोंके द्वारा अपने घरके किवाड़ बंद करा लेती थीं। द्वार खुल-वाने न खुलवानेका अधिकार उन्होंने स्वयं ही अपने अधीन कर रक्खा था। उनकी आज्ञाके बिना कोई भी उनके दर्शन नहीं कर सकता था। उन्होंने अत्यन्त ही कठोर व्रत धारण कर रक्खा था। प्रातःकाल नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होकर वे हरिनाम-जप करनेके निमित्त कुछ चावल अपने सम्मुख रख लेती थीं और प्रति मन्त्रपर एक-एक चावल मिट्टीके पात्रमें डालती जाती थीं। इस प्रकार वे तीसरे पहरतक जप करतीं थीं। फिर तीसरे पहर यत्नपूर्वक वस्त्रसे मुखको बाँधकर उन चावलोंका पाक करतीं थीं। बिना नमक और बिना दाल-शाकके उन चावलोंका महाप्रभुको भोग लगाती थीं, भाँति-भाँतिके स्नेह वचन कहतीं, स्तुति-प्रार्थना करके विविध भाँतिसे विलाप करतीं, अन्तमें आचमनी देकर भोग उतारतीं

और उसमेंसे एक मुट्ठीभर चावल प्रसाद समझकर पा लेतीं । शेष बचा हुआ प्रसाद भक्तोंमें वितरित कर दिया जाता था । इस प्रकारका कठोर व्रत कौन कर सकेगा ?' सचमुच कोई भी इस व्रतको नहीं कर सकता । श्रीगौराङ्गकी अर्धाङ्गिनी ! सचमुच तुम्हारा यह व्रत तुम-जैसी तपस्वीकी प्रणयिनीके ही अनुरूप है । माता ! तुम्हारे ही तपसे तो गौर-भक्त तप और व्रतका कठोर नियम सीखे हैं । हमारी मातायें तुम्हें अपना आदर्श बना लें तो यह अशान्तिपूर्ण संसार स्वर्गसे भी बढ़कर सुखकर और आनन्दप्रद बन जाय ।

श्रीईशान नागरने प्रियाजीका सभी वृत्तान्त अपने प्रभु अद्वैताचार्यसे जाकर कहा । आचार्यने सुनकर कुछ अन्यमनस्कभावसे कहा—"अच्छा, जैसी श्रीकृष्णकी इच्छा ।"

अवधूत नित्यानन्दजी भी जाह्नवी और वसुमती नामकी अपनी दोनों गृहिणियोंको छोड़कर परलोकवासी बन चुके थे । वसुमतीकी गोदमें वीरचन्द्र नामक एक पुत्र था, जाह्नवीकी गोद खाली थी । जाह्नवीदेवी पढ़ी-लिखी और देश-कालको समझनेवाली थीं । पतिके पश्चात् वे ही भक्तोंको मन्त्रदीक्षा देती थीं । इनका अबतक कभी श्रीविष्णुप्रियाजीसे साक्षात्कार नहीं हुआ था । अपने पति अवधूत नित्यानन्दके द्वारा वे विष्णुप्रियाजीके गुणोंको सुनती रहती थीं । अब जब इन दोनोंने विष्णुप्रियाजीके ऐसे कठोर तपकी बात सुनी तब तो श्रीविष्णुप्रियाजीके दर्शनोंकी उनकी इच्छा प्रबल हो उठी । वे दोनों शान्तिपुरसे श्रीअद्वैताचार्यके घर आयीं और वहाँसे अद्वैताचार्यकी गृहिणी श्रीसीतादेवीको साथ लेकर विष्णुप्रियाजीके दर्शनोंको चलीं । नवद्वीपमें वे वंशीवदनके घर आकर उतरीं । इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि वंशीवदन इस असार संसारको सदाके लिये त्याग गये थे, उनके चैतन्यदास और

नित्यानन्दके दो पुत्र थे। बड़े पुत्रके उन दिनों एक पुत्र हुआ था, जिसका नाम घरवालोंने रामचन्द्र रक्खा था। आगे चलकर ये ही रमाई पण्डितके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमें वंशीवदनका अंश माना जाता है।

विष्णुप्रियाजीने अवधूतकी धर्मपत्नियोंके आगमनका समाचार सुना। उन्होंने उन बेचारियोंको पहले कभी नहीं देखा था। हाँ, वे सुना करती थीं कि अवधूत अब गृहस्थी बनकर रहते हैं। प्रियाजी बाहर तो निकलती ही नहीं थीं। किन्तु जब उन्होंने अवधूतकी गृहिणियोंका और सीतादेवीका समाचार सुना, तब तो अपने प्रिय शिष्य वंशीवदनके घर जानेमें कोई आपत्ति न समझी। वंशीवदन उनके पुत्रके समान था। वंशीवदनका पुत्र चैतन्यदास भी प्रियाजीके चरणोंमें अत्यधिक भक्ति रखता था, उसके घरको कृतार्थ करने और उसके पुत्र रामचन्द्रको देखने तथा सीतादेवी आदिसे मिलनेके निमित्त प्रियाजी चैतन्यदासके घर पधारीं। चैतन्यदासका घर प्रियाजीके घरके अत्यन्त ही समीप था। प्रियाजीके पधारनेसे परिवारके सभी लोगोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। नित्यानन्दजीकी गृहिणी जाह्नवीदेवीने उठकर विष्णुप्रियाजीका स्वागत किया। दोनों ही महापुरुषोंकी अर्धाङ्गिनी सगी दो बहिनोंके समान परस्पर हृदय-से-हृदय मिलाकर मिलीं। तब जाह्नवीदेवी एकान्तमें प्रियाजीको लेकर उनसे स्नेहकी बातें करने लगीं। जाह्नवीने स्नेहसे प्रियाजीके कोमल करको अपने हाथमें लेते हुए कहा—'बहिन! तुम इतना कठोर तप क्यों कर रही हो? इस शरीरको सुखानेसे क्या लाभ! इसी शरीरसे तो तुम हरिनाम ले सकती हो। बहिन! तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा देखकर मेरी छाती फटी जाती है। मेरे पति महाप्रभुकी आज्ञासे अवधूतवेष छोड़कर गृहस्थी बन गये। उन्हें इतनी कठोरता अभीष्ट नहीं थी। मेरे पति तुम्हारे अन्तिम समयमें कह गये हैं, शरीरको कष्ट देना ठीक नहीं है। बहुत कठोरता कामकी नहीं होती।'

धीरे-धीरे आँखोंमें आँसू भरकर प्रियाजीने कहा—"बहिन ! तुम अपने पतिकी आज्ञाका पालन करो। मेरे पति तो भिक्षुक बनकर, भिक्षापर निर्वाह करके, स्त्रियोंके स्पर्शसे दूर रहकर घोर तपस्वीकी तरह जीवनभर रहे। उन्होंने अपने शरीरको कभी सुख नहीं पहुँचाया। मैं तो जितना बन सकेगा, शरीरको सुखाऊँगी।" इतना कहते-कहते प्रियाजी रुदन करने लगीं।

इसके अनन्तर उन्होंने आकर सीतादेवीके पैर छुए। सीतामाताने उनके हाथ पकड़ते हुए कहा—"तुम गौराङ्गकी गृहिणी हो, जगन्माता हो। तुम मेरे पैर मत छुओ।" विष्णुप्रियाजी अधीर होकर वृद्धा सीतामाताकी गोदमें लुढ़क गयीं। सीतामाताने उनके सिरको गोदीमें रखते हुए कहा—"इस कमलवदनको देखकर ही मैं गौराङ्गके दुःखको भूल जाती हूँ। विष्णुप्रिये ! तुम इतनी कठोरता मत करो। मेरे वृद्ध पति तुम्हारे इस कठोर व्रतसे सदा खिन्न-से रहते हैं।" विष्णुप्रियाजीके दोनों कमलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु निकल रहे थे। सीतामाता उन्हें अपने अञ्चलसे पोंछ देतीं और उसी क्षण वे फिर भर आते। सीतादेवीके वस्त्र भीग गये, किन्तु विष्णुप्रियाजीके नेत्रोंका जल न रुका। रोते-रोते उन्होंने सबसे विदा ली। जाह्नवीदेवीने पूछा—"बहिन ! अब कब भेंट होगी ?

अपने आँसुओंसे जाह्नवीदेवीके वक्षःस्थलको भिगोती हुई विष्णुप्रियाजीने कहा—"अब मिलना कैसा ? अब दैवकी इच्छा होगी।" इतना कहते-कहते प्रियाजीने रोते-रोते जाह्नवीदेवी और वसुमतीदेवीका आलिङ्गन किया, सीतामाताके पैर छुए और वे घरको चली आयीं।

अब विष्णुप्रियाजीका वियोग दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। अब वे दिन-रात रोती ही रहती थीं। काञ्चना उन्हें श्रीचैतन्यलीलाएँ सुना-सुनाकर सान्त्वना प्रदान करती रहती, किन्तु विष्णुप्रियाजीका हृदय

अपने पतिके पास परलोकमें जानेके लिये तड़फ रहा था। इसलिये रात-दिन उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा ही प्रवाहित होती रहती।

फाल्गुनी पूर्णिमा थी, चैतन्यदेवके जन्मका दिवस था। विष्णुप्रियाजीकी अधीरता आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा अत्यधिक बढ़ गयी थी। वे पगलीकी तरह हा प्राणनाथ! हा हृदयरमण! हा जीवन-सर्वस्व! कहकर लंबी-लंबी साँसें छोड़ती थीं। काञ्चना उनकी ऐसी दशा देखकर चैतन्यचरित्र सुना-सुनाकर सान्त्वना देने लगी किन्तु आज वे शान्त होती ही नहीं थीं, थोड़ी देरके पश्चात् उन्होंने कहा—'काञ्चने! तू यादवको तो बुला ला, आज मैं उनकी मूर्तिके भीतरसे दर्शन करना चाहती हूँ।'

काञ्चनाने उसी समय आज्ञाका पालन किया। वह जल्दीसे यादवाचार्य गोस्वामीको बुला लायी। आचार्यने मन्दिरके कपाट खोले। लंबी-लंबी साँस लेती हुई वस्त्रसे शरीर ढककर विष्णुप्रियादेवीजीने मन्दिरमें प्रवेश किया और थोड़ी देर एकान्तमें रहनेकी इच्छासे किवाड़ बंद करा दिये। यादवाचार्यने किवाड़ बंद कर दिये। काञ्चना द्वारपर खड़ी रही। जब बहुत देर हो गयी तब काञ्चनाने व्यग्रताके साथ आचार्यसे किवाड़ खोलनेको कहा। आचार्यने डरते-डरते किवाड़ खोले। बस, अब वहाँ क्या था, श्रीविष्णुप्रियाजी तो अपने पतिके साथ एकीभूत हो गयीं। उसके पश्चात् फिर किसीको श्रीविष्णुप्रियाजीके इस भौतिक शरीरके दर्शन नहीं हुए। मन्दिरको शून्य देखकर काञ्चना चीत्कार मारकर बेहोश होकर गिर पड़ी, सभी भक्त हाहाकार करने लगे। हा गौर! हा विष्णुप्रिये! की करुणाभरी ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ भर गयीं। भक्तोंके करुणक्रन्दनसे आकाशमण्डल गूँजने लगा।

श्रीश्रीनिवासाचार्यजी

गौरशक्तिधरं सौम्यं सुन्दरं सुमनोहरम्।
गोपालानुगतं विज्ञं श्रीनिवासं नमाम्यहम्॥*

(प्र० द० ब्र०)

आचार्य श्रीनिवासजीके पूजनीय पितृदेव श्रीचैतन्यदास बर्दवान जिलेके अन्तर्गत चाकन्दी नामक ग्राममें रहते थे। वे श्रीचैतन्यदेवके अनन्य भक्तोंमेंसे थे। असलमें उनका नाम तो था गङ्गाधर भट्टाचार्य किन्तु श्रीचैतन्यके प्रेमबाहुल्यके कारण लोग इन्हें 'चैतन्यदास' कहने लगे थे।

महाप्रभु जब गृह त्यागकर कटवामें केशव भारतीके स्थानपर संन्यास-दीक्षा लेने आये, तब वहाँ उनके दर्शनोंके लिये बहुत-से आदमी

---

* जो साक्षात् श्रीचैतन्यदेवके प्रेमके दूसरे विग्रह समझे जाते हैं, जो चैतन्यदेवके ही समान सुन्दर, सौम्य और लोगोंके मनको बलात् अपनी ओर आकर्षित करनेवाले थे, उन आचार्यप्रवर श्रीगोपालभट्टजीके प्रिय शिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

आये हुए थे। उन आगत मनुष्योंमेंसे भट्टाचार्य गङ्गाधरजी भी थे। उन्होंने यह हृदयविदारक दृश्य अपनी आँखोंसे देखा था। बस, उसी शोकमें वे पागलोंकी तरह हा चैतन्य! हा चैतन्य! कहकर फिरने लगे, तभीसे वे चैतन्यदासके नामसे पुकारे जाने लगे।

ईश्वरकी इच्छा बड़ी ही प्रबल होती है, वृद्धावस्थामें चैतन्यदासजीको सन्तानका मुख देखनेकी इच्छा हुई। विवाह तो इनका बहुत पहले ही हो चुका था, इनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मीप्रियाजी बड़ी ही पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थीं। वे अपने पतिको संसारी विषयोंसे विरक्त देखकर खिन्न नहीं होती थीं। पतिकी प्रसन्नतामें ही वे अपनी प्रसन्नता समझतीं। इस वृद्धावस्थामें दम्पतीको पुत्र-दर्शनकी लालसा हुई। दोनों ही पति-पत्नी पुरीमें महाप्रभुके दर्शनोंके लिये गये। महाप्रभुने आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारे जो पुत्र होगा, उसमें हमारी शक्तिका अंश रहेगा, वह हमारा ही दूसरा विग्रह होगा।' महाप्रभुका वरदान अन्यथा थोड़े ही हो सकता था। इसके दूसरे ही वर्ष लक्ष्मीप्रियाजीने चाकन्दीमें एक पुत्र-रत्न प्रसव किया। माता-पिताने उसका नाम रक्खा श्रीनिवास। ये ही श्रीनिवास आगे चलकर श्रीनिवासाचार्यके नामसे भक्तोंमें अत्यधिक प्रसिद्ध हुए।

श्रीनिवास बाल्यकालसे ही बुद्धिमान्, सुशील, सौम्य और मेधावी प्रतीत होते थे। सत्तरह-अठारह वर्षकी अल्पावस्थामें ही ये व्याकरण, काव्य तथा अलङ्कार-शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये थे। इनकी ननसाल जाजिग्राममें थी, इनके नाना श्रीबलरामाचार्य भी परम भक्त और सच्चे वैष्णव थे। इनकी माता तो बड़ी पतिपरायणा और चैतन्य-चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाली थीं। बाल्यकालसे ही उसने अपने प्रिय पुत्र श्रीनिवासको चैतन्य-लीलाएँ कण्ठस्थ करा दी थीं। बच्चेके हृदयमें बाल्यकालकी जमी हुई

छाप सदाके लिये अमिटनी हो जाती है। श्रीनिवासके हृदयमें भी चैतन्यकी मनमोहिनी मूर्ति समा गयी। वे चैतन्य-चरणोंके दर्शनोंके लिये छटपटाने लगे।

एक दिन वे अपनी ननसाल जाजिग्रामको जा रहे थे, रास्तेमें श्रीखण्डनिवासी श्रीनरहरि सरकारसे इनकी भेंट हो गयी। सरकार महाशय महाप्रभुके अनन्य भक्त थे और गौर-भक्तोंमें वे 'सरकार ठाकुर' के नामसे प्रसिद्ध थे। पण्डित गोस्वामी (गदाधर पण्डित) के ये अत्यन्त ही कृपापात्र थे। वे इनके ऊपर बहुत प्यार करते थे।

श्रीनिवासजीने सरकार ठाकुरकी ख्याति तो सुन रक्खी थी, किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य उन्हें आजतक कभी प्राप्त नहीं हुआ था। इधर ठाकुर सरकारने भी बालक श्रीनिवासकी असाधारण प्रतिभा और प्रभुपरायणताकी प्रशंसा सुन रखी थी और वे उस होनहार बालकको देखनेके लिये लालायित भी थे। सहसा दोनोंकी रास्तेमें भेंट हो गयी। श्रीनिवासजीने श्रद्धा-भक्तिके सहित सरकार ठाकुरके चरणोंमें प्रणाम किया और सरकार ठाकुरने इन्हें प्रेमालिङ्गन प्रदान करके प्रभु-प्रेम-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया। उन महापुरुषका आशीर्वाद पाकर श्रीनिवास अपनी ननसाल होकर लौट आये और अपने पितासे महाप्रभुकी लीलाओंको बड़े ही चावसे सुनने लगे। उन्होंने एक-एक करके प्रभुके सभी अन्तरङ्ग भक्तोंके संक्षिप्त चरित्र जान लिये।

कालकी गति विचित्र होती है, चैतन्यदासजीको ज्वर आने लगा और उसी ज्वरमें वे इस असार संसारको त्यागकर वैकुण्ठवासी बन गये। श्रीनिवास अब पितृहीन हो गये। लक्ष्मीप्रिया पतिके शोकमें दिन-रात रोने लगीं।

श्रीनिवासजीके नाना श्रीबलरामाचार्यके कोई सन्तान नहीं थी, ये ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके एकमात्र उत्तराधिकारी थे, अतः ये अपनी माताको लेकर जाजिग्राममें जाकर रहने लगे। इनकी बार-बार इच्छा होती थी कि सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीचैतन्य-चरणोंकी ही शरण लें, किन्तु स्नेहमयी माताके बन्धनके कारण ये ऐसा कर नहीं सकते थे, किन्तु एक बार पुरी चलकर उनके दर्शनोंसे तो इन नेत्रोंको कृतार्थ कर लें यह उनकी प्रबल वासना थी। जाजिग्रामकी भक्त-मण्डलीमें इनका अत्यधिक आदर था। इस अल्पावस्थामें ही इनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। अतः इन्होंने अपनी इच्छा सरकार ठाकुरपर प्रकट की। सरकार ठाकुरने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'तुम पुरी जाकर श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शन अवश्य करो। मैं तुम्हारे साथ एक आदमी किये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने एक आदमी इनके साथ कर दिया और ये उनके साथ पुरीकी ओर चल पड़े।

श्रीचैतन्यदेवके प्रेममें विभोर हुए ये अनेक बातें सोचते जाते थे कि 'श्रीचैतन्य-चरणोंमें जाकर यों प्रणत हूँगा, यों उनके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रकट करूँगा। एक दिन स्वयं उन्हें अपने हाथोंसे बनाकर भिक्षा कराऊँगा।' श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठाके कारण ही उनके मनमें ऐसे भाव उठ रहे थे कि रास्तेमें उन्होंने एक बड़ा ही हृदय-विदारक समाचार सुना। 'जिनके दर्शनोंकी लालसासे हम पुरी जा रहे हैं, वे तो अपनी लीलाको संवरण कर चुके। चैतन्यदेव इस नश्वर शरीरको छोड़कर अपने नित्य-धामको चले गये।' इस समाचारको सुनते ही इनका हृदय फट गया, ये मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। बड़ी देरके पश्चात् इन्हें होश आया, सब दुःखित मनसे श्रीचैतन्यकी लीलास्थलीके दर्शनोंके ही निमित्त वे रोते-रोते आगे बढ़े।

पुरीमें जाकर उन्होंने देखा वह भरी-पूरी नगरी गौराङ्गके बिना श्रीहीन तथा विधवा स्त्रीकी भाँति निरानन्दपूर्ण बनी हुई है। सभी गौर-भक्त गौर-विरहमें जल मछलीकी भाँति तड़प रहे हैं। गौरने स्वप्नमें ही इन्हें गदाधर पण्डितके पास जानेका आदेश दे दिया था। पण्डित गोस्वामीकी ख्याति ये पहलेसे ही सुनते रहते थे। पुरीमें ये गदाधर गोस्वामीका पता पूछते-पूछते उनके आश्रममें पहुँचे। वहाँ उन्होंने विरह-वेदनामें बेचैन बैठे हुए पण्डित गोस्वामीको देखा। पण्डित गोस्वामी चैतन्य-विरहमें विक्षिप्त-से हो गये थे। उनके दोनों नेत्रोंसे सतत अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। श्रीनिवासजी 'हा चैतन्य!' कहते-कहते उनके चरणोंमें गिर पड़े। आँसुओंके भरे रहनेके कारण पण्डित गोस्वामी श्रीनिवासजीको देख नहीं सके। उन्होंने अत्यन्त ही करुणस्वरमें कहा—'भैया! तुम कौन हो? इस सुमधुर नामको सुनाकर तुमने मेरे शिथिल अङ्गोंमें पुनः शक्तिका सञ्चार-सा कर दिया है। आज मेरे हृदयमें तुम्हारे इन सुमधुर वाक्योंसे बड़ी शान्ति-सी प्रतीत हो रही है। तुम श्रीनिवास तो नहीं हो।' दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए श्रीनिवासजीने कहा—'प्रभो! इस अधम भाग्यहीनका ही नाम श्रीनिवास है। स्वामिन्! इस दीन-हीन कंगालका नाम आपको याद है, प्रभो! मैं बड़ा हतभागी हूँ कि इस जीवनमें श्रीचैतन्य-चरणोंके साक्षात् दर्शन न कर सका। महाप्रभु यदि स्वप्नमें मुझे आदेश न देते तो मैं उसी क्षण अपने प्राणोंको विसर्जन करनेका संकल्प कर चुका था। चैतन्यचरणोंके दर्शन बिना इस जीवनसे क्या लाभ?'

पण्डित गोस्वामीने उठकर श्रीनिवासजीका आलिङ्गन किया और उनके कोमल अंगपर अपना शीतल प्रेममय करकमल धीरे-धीरे फिराने लगे। उनके प्रेम-स्पर्शसे श्रीनिवासजीका सम्पूर्ण शरीर पुलकित

हो उठा। तब अधीरताके साथ पण्डित गोस्वामीने कम्पकण्ठसे कहा—'श्रीनिवास ! अब मैं भी अधिक दिनोंतक जीवित नहीं रह सकता। गौरके विरहमें मेरे प्राण तड़प रहे हैं । मैं तो उसी दिन समुद्रमें कूदकर इन प्राणोंका अन्त कर देता, किन्तु प्रभुकी आज्ञा थी कि मैं तुम्हें श्रीमद्भागवत पढ़ाऊँ । मेरी स्थिति अब पढ़ानेयोग्य तो रही नहीं। किन्तु महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य है । प्रभु तुम्हें वृन्दावनमें जाकर रूप-सनातनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेके लिये आदेश दे गये हैं । वे तुम्हारे द्वारा गौड़देशमें भक्तिका प्रचार कराना चाहते हैं । तुम अब आ गये। लाओ मैं प्रभुकी आज्ञाका पालन करूँ। इससे पहले तुम पुरीके सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गौर-भक्तोंके दर्शन कर आओ।'

पण्डित गोस्वामीने अपना एक आदमी श्रीनिवासजीके साथ कर दिया । उसके साथ ये श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते हुए सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द आदि भक्तोंके दर्शनोंके लिये गये और उन सबकी चरण-वन्दना करके इन्होंने अपना परिचय दिया । सभीने इनके ऊपर पुत्रकी भाँति स्नेह प्रकट किया । इन सबसे विदा होकर फिर ये भक्त हरिदासजीकी समाधिके दर्शनोंके लिये गये । वहाँ हरिदासजीकी नामनिष्ठा और उनकी सहिष्णुताका स्मरण करके ये मूर्च्छित हो गये और घण्टों वहाँकी धूलिमें लोटते-लोटते अश्रुविमोचन करते रहे । श्रीचैतन्यकी सभी लीलास्थलियोंके दर्शन करके ये पुनः पण्डित गोस्वामीके समीप लौट आये । तब गदाधरजीने इन्हें महाप्रसादका भोजन कराया । भोजनके अनन्तर स्वस्थ होनेपर इन्होंने श्रीमद्भागवतके पाठकी जिज्ञासा की । गदाधर गोस्वामीके नेत्रोंसे जल निरन्तर बह रहा था । खाते-पीते, पढ़ते-लिखते हर समय उनका अश्रुप्रवाह जारी ही रहता । वे बड़े कष्टसे पोथीको श्रीनिवासजीको देकर पढ़ाने लगे ।

श्रीनिवासजीने देखा। पोथीका एक भी अक्षर ठीक-ठीक नहीं पढ़ा जाता। सभी पृष्ठ पण्डित गोस्वामीके नेत्रोंके जलसे भींगे हुए हैं। निरन्तरके अश्रु-प्रवाहसे पोथीके सभी अक्षर मिटकर पृष्ठ काले रंगके बन गये हैं। श्रीनिवासजीने उसे पढ़नेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। तब गदाधर गोस्वामीने कहा—'श्रीनिवास! अब मेरे जीनेकी तुम विशेष आशा मत रक्खो। संसार मुझे सूना-सूना दीखता है। हाय! जहाँ गौर नहीं, वहाँ मैं कैसे रह सकूँगा। मेरे प्राण गौर-दर्शनोंके लिये लालायित हो रहे हैं। यदि तुम पढ़ना ही चाहते हो तो आज ही तुम गौड़ चले जाओ। नरहरि सरकारके पास मेरे हाथकी लिखी हुई एक नयी पोथी है, उसे ले आओ। बहुत सम्भव है, मैं तुम्हें पढ़ा सकूँ।' श्रीनिवासजी समझ गये कि पण्डित गोस्वामीका शरीर अब अधिक दिनतक नहीं टिक सकता। वे उसी समय सरकार ठाकुरके समीपसे पोथी लानेके लिये चल पड़े। श्रीखण्डमें आकर उन्होंने सभी वृत्तान्त सरकार ठाकुरसे कहा और वे जल्दीसे पोथी लेकर पुरीके लिये चल दिये।

अभी वे पुरीके आधे ही मार्गमें पहुँचे थे कि उन्हें यह हृदयको हिला देनेवाला दूसरा समाचार मिला कि पण्डित गोस्वामीने गौर विरहकी अग्निमें अपने शरीरको जला दिया, वे इस संसारको छोड़कर गौरके समीप पहुँच गये। दुःखित श्रीनिवासके कलेजेमें सैकड़ों बर्छियोंके लगनेसे जितना घाव होता है, उससे भी बड़ा घाव हो गया। वे रो-रोकर भूमिपर लोटने लगे। 'हाय! उन महापुरुषसे मैं श्रीमद्भागवत भी न पढ़ सका। अब पुरी जाना व्यर्थ है।' यह सोचकर वे फिर गौड़की ही ओर लौट पड़े। वहाँ पानीहाटीसे कुछ दूरपर उन्होंने एक तीसरा हृदयविदारक समाचार सुना। एक मनुष्यने कहा—'महाप्रभुके

तिरोभावके अनन्तर श्रीपाद नित्यानन्दजीकी दशा विचित्र ही हो गयी थी। उन्होंने संकीर्तनमें जाना एकदम बंद कर दिया था, वे खड़दहके अपने मकानमें ही पड़े-पड़े 'हा गौर! हा गौर!' कहकर सदा रुदन किया करते थे। कभी-कभी कीर्तनके लिये उठते तो क्षणभरमें ही मूर्छित होकर गिर पड़ते और घण्टोंमें जाकर होशमें आते। सभी भक्त उनकी मनोव्यथाको समझते थे, इसलिये कोई उनसे संकीर्तनमें चलनेका आग्रह नहीं करता था। एक दिन वे श्यामसुन्दरके मन्दिरमें भक्तोंके साथ संकीर्तन कर रहे थे, संकीर्तन करते-करते ही वे अचेत होकर भूमिपर गिर पड़े। यह उनकी अचेतनता अन्तिम ही थी। भक्तोंने भाँति-भाँतिके यत्न किये किन्तु फिर वे सचेत नहीं हुए। वे गौरधाममें जाकर अपने भाई निमाईसे साथ मिल गये।'

श्रीनिवासजीके ऊपर मानो वज्र गिर पड़ा हो, वे खिन्न-चित्तसे क्रन्दन करते-करते सरकार ठाकुरके समीप पहुँचे और रो-रोकर सभी समाचार सुनाने लगे। भक्तिमदनके इन प्रधान खम्भोंके टूट जानेसे भक्तोंको अपार दुःख हुआ। सरकार ठाकुर बच्चोंकी तरह ढाड़ मारकर रुदन करने लगे। श्रीनिवासजीके दोनों नेत्र रुदन करते-करते फूल गये थे। वे कण्ठ रुँध जानेके कारण कुछ कह भी नहीं सकते थे। सरकार ठाकुरने इन्हें कई दिनोंतक अपने ही यहाँ रक्खा। इसके अनन्तर वे घर नहीं गये। अब उनकी इच्छा श्रीचैतन्यकी क्रीडा-भूमिके दर्शनोंकी हुई। वे उसी समय सरकार ठाकुरसे विदा होकर नवद्वीपमें आये। उन दिनों विष्णुप्रियादेवीजी घोर तपस्यामय जीवन बिता रही थीं। वे किसीसे भी बातें नहीं करती थीं, किन्तु उन्हें स्वप्नमें श्रीगौराङ्गका आदेश हुआ कि 'श्रीनिवास हमारा ही अंश है, इससे मिलनेमें कोई क्षति नहीं। इसके ऊपर तुम कृपा करो।' तब उन्होंने श्रीनिवासजीको स्वयं बुलाया। वे इस छोटे बालकके ऐसे त्याग, वैराग्य, प्रेम और रूपलावण्यको देखकर

बड़ी ही प्रसन्न हुईं। प्रियाजीने इनके ऊपर परम कृपा प्रदर्शित की। इनसे बातें कीं, इनके मस्तकपर अपना पैर रक्खा और अपने घरके बाहरी दालानमें इन्हें कई दिनोंतक रक्खा।

जगन्माता विष्णुप्रियाजीसे विदा होकर ये शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यकी जन्मभूमिको देखने गये। वहाँसे ये नित्यानन्दजीके घर खड़दहमें पहुँचे। वहाँ अवधूतकी पत्नी श्रीमती जाह्नवीदेवीने इनपर अपार प्रेम प्रदर्शित किया और कई दिनोंतक अपने घरमें ही इन्हें रक्खा। उन दोनों माताओंकी चरण-वन्दना करके ये खानाकुल कृष्णनगरके गोस्वामी अभिरामदासजीके दर्शनोंको गये। उन्होंने ही इन्हें वृन्दावनमें जाकर भक्ति-ग्रन्थोंके अध्ययन करनेकी अनुमति दी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके ये अपनी मातासे आज्ञा लेकर काशी-प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ जीव गोस्वामीने इनका बड़ा सत्कार किया। उन्होंने ही गोपाल-भट्टसे इन्हें मन्त्र-दीक्षा दिलायी। ये वृन्दावनमें ही रहकर श्रीरूप और सनातन आदि गोस्वामियोंके बनाये हुए भक्ति-शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे। वहीं इनकी नरोत्तमदासजी तथा श्यामानन्दजीके साथ भेंट हुई और उन्हींके साथ ये गोस्वामियोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे।

श्रीजीव गोस्वामीजीने जब समझ लिया कि ये तीनों ही योग्य बन गये हैं, तीनों ही तेजस्वी, मेधावी और प्रभावशाली हैं, तब इन्हें गौड़देशमें भक्तितत्त्वका प्रचार करनेके निमित्त भेजा। नरोत्तमदासजीको 'ठाकुर' की उपाधि दी और श्रीनिवासजीको आचार्यकी। भक्ति-ग्रन्थोंके बिना भक्ति-मार्गका यथाविधि प्रचार हो नहीं सकता। अतः जीव गोस्वामीने बहुत-से ग्रन्थोंको मोमजामेके कपड़ोंमें बँधवा-बँधवाकर तथा कई सुरक्षित संदूकोंमें बंद कराकर एक बैलगाड़ीमें लादकर इनके साथ भेजा। रक्षाके लिये साथमें दस अस्त्रधारी सिपाही भी कर दिये। तीनों

ही तेजस्वी युवक अपने आचार्यों तथा भक्तोंके चरणोंमें प्रणाम करके काशी-प्रयाग होते हुए गौड़देशकी ओर जाने लगे।

रास्तेमें बाँकुड़ा जिलेके अन्तर्गत वनविष्णुपुर नामकी एक छोटी-सी राजधानी पड़ती है, वहाँ पहुँचकर डाकुओंने इनकी सभी संदूकें छीन लीं और सभीको मार भगाया। इस बातसे सभीको अपार कष्ट हुआ। असलमें उस राज्यके शासक राजा वीरहम्मीर ही डाकुओंको उत्साहित कर दिया करते थे और उस गाड़ीको भी धन समझकर उन्होंने ही लुटवा लिया था। पुस्तकोंके लुट जानेसे दुःखी होकर श्रीनिवासजीने श्यामानन्दजीसे और नरोत्तम ठाकुरसे कहा—'आपलोग अपने-अपने स्थानोंको जाइये और आचार्यचरणोंकी आज्ञाको शिरोधार्य करके भक्तिमार्गका प्रचार कीजिये। मैं या तो पुस्तकोंको प्राप्त करके लौटूँगा या यहीं कहीं प्राण गँवा दूँगा।' बहुत कहने-सुननेपर वे दोनों आगेके लिये चले गये। श्रीनिवासजी वनविष्णुपुरमें घूम-घूमकर पुस्तकोंकी खोज करने लगे। दैवसंयोगसे उनका राजसभामें प्रवेश हो गया। राजा वीरहम्मीर श्रीमद्भागवतके बड़े प्रेमी थे, उनकी सभामें रोज कथा होती थी। एक दिन कथावाचक राज-पण्डितको अशुद्ध अर्थ करते देखकर इन्होंने उसे टोका, तब राजाने कुतू-हलके साथ इनके मैले-कुचैले वस्त्रोंको देखकर इन्हींसे अर्थ करनेको कहा। बस, फिर क्या था, वे धाराप्रवाहरूपसे एक ही श्लोकके नाना भाँतिसे युक्ति और शास्त्रप्रमाणद्वारा विलक्षण-विलक्षण अर्थ करने लगे। इनके ऐसे प्रकाण्ड पाण्डित्यको देखकर सभी श्रोता मन्त्रमुग्ध-से बन गये। राजाने इनके चरणोंमें प्रणाम किया। पूछनेपर इन्होंने अपना सभी वृत्तान्त सुनाया। तब दबडबाई आँखोंसे राजा इन्हें भीतर ले गया और इनके पैरोंमें पड़कर कहने लगा—'आपका यह पुस्तकोंको लूटनेवाला डाकू मैं ही हूँ। ये आपकी पुस्तकें ज्यों-की-त्यों ही रक्खी हैं।' श्रीजीव

गोस्वामीकी दी हुई सभी वस्तुओंको सुरक्षित पाकर ये प्रेमसे गद्गद होकर अश्रुविमोचन करने लगे, इन्होंने श्रद्धा-भक्तिके साथ उन पुस्तकोंको प्रणाम किया और अपने परिश्रमको सफल हुआ समझकर अत्यन्त ही प्रसन्न हो गये। उसी दिनसे राजाने यह कुत्सित कर्म एकदम त्याग दिया और वह इनका मन्त्रशिष्य बन गया।

वनविष्णुपुरके राजाका उद्धार करके फिर ये जाजिग्राममें अपनी माताके दर्शनोंके लिये आये। बहुत दिनोंके पश्चात् अपने प्यारे पुत्रको पाकर स्नेहमयी माताकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा, वह प्रेममें गद्गद कण्ठसे रुदन करने लगी। आचार्य श्रीनिवास अब वहीं रहकर भक्तिमार्गका प्रचार करने लगे। उनकी वाणीमें आकर्षण था, चेहरेपर तेज था। सभी वैष्णव इनका अत्यधिक आदर करते थे। वैष्णवसमाजके ये सम्माननीय अग्रणी समझे जाते थे। उन्चास वर्षकी अवस्थामें इन्होंने अपना पहला विवाह किया और कुछ दिनों बाद दूसरा विवाह भी कर लिया। इस प्रकार दो विवाह करनेपर भी ये विरक्तोंकी ही भाँति जीवन बिताने लगे। बीचमें ये एक बार पुनः अपने गुरुदेवके दर्शनोंके निमित्त वृन्दावन पधारे थे, तबतक इनके गुरु श्रीगोपाल भट्टका वैकुण्ठवास हो चुका था। कुछ दिन वृन्दावन रहकर ये पुनः गौड़देशमें आकर प्रचारकार्य करने लगे।

ठाकुर नरोत्तमदासजी

लोकनाथप्रियं धीरं लोकातीतं च प्रेमदम्।
श्रीनरोत्तमनामाख्यं तं विरक्तं नमाम्यहम्॥*

(प्र० व० म०)

पद्मानदीके किनारे 'खेतरी' नामकी एक छोटी-सी राजधानी है। उसी राज्यके स्वामी श्रीकृष्णानन्ददत्त मजूमदारके यहाँ नारायणीदेवीके गर्भसे ठाकुर नरोत्तमदासजीका जन्म हुआ। ये बाल्यकालसे ही विरक्त थे। घरमें अतुल ऐश्वर्य था, सभी प्रकारके संसारी सुख थे, किन्तु इन्हें

---

* श्रीलोकनाथ गोस्वामीके परम प्रिय शिष्य, महाधैर्यवान् और लोकातीत कार्य करनेवाले उन श्रीनरोत्तमदासजीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ, जो राज्यश्रीको छोड़कर विरक्त बनकर लोगोंको प्रेमदान देते रहे।

कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। ये वैष्णवोंके द्वारा श्रीगौराङ्गकी लीलाओंको श्रवण किया करते थे। श्रीरूप तथा सनातन और श्री-रघुनाथदासजीके त्याग और वैराग्यकी कथाएँ सुन-सुनकर इनका मन राज्य, परिवार तथा धन-सम्पत्तिसे एकदम फिर गया। ये दिन-रात श्रीगौराङ्गकी मनोहर मूर्तिका ही ध्यान करते रहे। सोते-जागते, उठते-बैठते इन्हें चैतन्यलीलाएँ ही स्मरण होने लगीं। घरमें इनका चित्त एकदम नहीं लगता था। इसलिये ये घरको छोड़कर कहीं भाग जानेकी बात सोच रहे थे। गौराङ्ग महाप्रभु तथा उनके बहुत-से प्रिय पार्षद इस संसारको त्यागकर वैकुण्ठवासी बन चुके थे। बालक नरोत्तमदास कुछ निश्चित न कर सके कि किसके पास जाऊँ। पण्डित गोस्वामी, स्वरूपदामोदर, नित्यानन्दजी, अद्वैताचार्य तथा सनातन आदि बहुत-से प्रभुपार्षद इस संसारको छोड़ गये थे। अब किसकी शरणमें जानेसे गौरप्रेमकी उपलब्धि हो सकेगी—इसी चिन्तामें ये सदा निमग्न रहते। एक दिन स्वप्नमें इन्हें श्रीगौराङ्गने दर्शन दिये और आदेश दिया कि 'तुम वृन्दावनमें जाकर लोकनाथ गोस्वामीके शिष्य बन जाओ।' बस, फिर क्या था, ये एक दिन घरसे छिपकर वृन्दावनके लिये भाग गये और वहाँ श्रीजीव गोस्वामीके शरणापन्न हुए। इन्होंने अपने स्वप्नका वृत्तान्त जीव गोस्वामी-को सुनाया। इसे सुनकर उन्हें प्रसन्नता भी हुई और कुछ खेद भी। प्रसन्नता तो इनके राजपाट, धन-धान्य तथा कुटुम्ब-परिवारके परित्याग और वैराग्यके कारण हुई। खेद इस बातका हुआ कि लोकनाथ गोस्वामी किसीको शिष्य बनाते ही नहीं। शिष्य न बनानेका उनका कठोर नियम है।

श्रीलोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ गोस्वामी दोनों ही महाप्रभुके संन्यास लेनेसे पूर्व ही उनकी आज्ञासे वृन्दावनमें आकर चीरघाटपर एक कुञ्जकुटीर बनाकर साधन-भजन करते थे। लोकनाथ गोस्वामीका

वैराग्य बड़ा ही अलौकिक था। वे कभी किसीसे व्यर्थकी बातें नहीं करते। प्रायः वे सदा मौनी-से ही बने रहते। शान्त एकान्त स्थानमें वे चुपचाप भजन करते रहते, स्वतः ही कुछ थोड़ा बहुत प्राप्त हो गया, उसे पा लिया, नहीं तो भूखे ही पड़े रहते। शिष्य न बनानेका इन्होंने कठोर नियम कर रक्खा था, इसलिये आजतक इन्होंने किसीको भी मन्त्रदीक्षा नहीं दी थी। श्रीजीव गोस्वामी इन्हें लोकनाथ गोस्वामीके आश्रममें ले गये और वहाँ जाकर इनका उनसे परिचय कराया। राजा कृष्णानन्ददत्तके सुकुमार राजकुमार नरोत्तमदासके ऐसे वैराग्यको देखकर गोस्वामी लोकनाथजी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। जब इन्होंने अपनी दीक्षा-की बात कही तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'हमें तो गौरने आज्ञा नहीं दी। हमारा तो शिष्य न करनेका नियम है। तुम किसी और गुरुकी शरणमें जाओ।' इस उत्तरसे राजकुमार नरोत्तमदासजी हताश या निराश नहीं हुए, उन्होंने मन-ही-मन कहा—'मुझमें शिष्य बननेकी सच्ची श्रद्धा होगी तो आपको ही दीक्षा देनी होगी।' यह सोचकर वे छिपकर वहीं रहने लगे।

श्रीलोकनाथ गोस्वामी प्रातःकाल उठकर यमुनाजीमें स्नान करने जाते और दिनभर अपनी कुञ्जकुटीरमें बैठे-बैठे हरिनाम-जप किया करते। नरोत्तमदास छिपकर उनकी सेवा करने लगे। वे जहाँ शौच जाते, उस शौचको उठाकर दूर फेंक आते। जिस कँकरीले, पथरीले और कण्टकाकीर्ण रास्तेसे वे यमुनास्नान करने जाते उस रास्तेको खूब साफ करते। उसमेंके काँटेदार वृक्षोंको काटकर दूसरी ओर फेंक देते; वहाँ सुन्दर बालुका बिछा देते। कुञ्जको बाँध देते। उनके हाथ धोनेको नरम-सी सुन्दर मिट्टी लाकर रख देते। दोपहरको उनके लिये भिक्षा लाकर चुपके-से रख आते। सारांश यह कि जितनी वे कर सकते थे और जो भी उनके सुखका उपाय सूझता उसे ही सदा करते रहते। इस प्रकार

उन्हें गुप्त रीतिसे सेवा करते हुए बारह-तेरह महीने बीत गये। जब सब बातें गोस्वामीजीको विदित हो गयीं तो उनका हृदय भर आया। अब वे अपनी प्रतिज्ञाको एकदम भूल गये, उन्होंने राजकुमार नरोत्तमको हृदयसे लगा लिया और उन्हें मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये उद्यत हो गये। बात-की-बातमें यह समाचार सम्पूर्ण वैष्णवसमाजमें फैल गया। सभी आकर नरोत्तमदासजीके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। दीक्षातिथि श्रावणकी पूर्णिमा निश्चित हुई, उस दिन सैकड़ों विरक्त भक्त श्रीलोकनाथ गोस्वामीके आश्रमपर एकत्रित हो गये। जीव गोस्वामीने माला पहनाकर नरोत्तमदासजीको गुरुके चरणोंमें भेजा। गुरुने पहले उनसे कहा—'जीवनभर अविवाहित रहना होगा! सांसारिक सुखोंको एकदम तिलाञ्जलि देनी होगी! मांस-मछली जीवनमें कभी न खानी होगी!' नतमस्तक होकर नरोत्तमदासजीने सभी बातें स्वीकार कीं। तब गोस्वामीजीने इन्हें विधिवत् दीक्षा दी। नरोत्तम ठाकुरका अब पुनर्जन्म हो गया। इन्होंने श्रद्धा-भक्तिके सहित सभी उपस्थित वैष्णवोंकी चरण-वन्दना की। गुरुदेवकी पदधूलि मस्तकपर चढ़ायी और वे उन्हींकी आज्ञासे श्रीजीव गोस्वामीके समीप रहकर भक्तिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करते रहे।

कालान्तरमें श्रीजीव गोस्वामीने इन्हें और श्यामानन्द तथा श्रीनिवासाचार्यको भक्तिमार्गका प्रचार करनेके निमित्त गौड़देशको भेजा। श्रीश्यामानन्दजीने तो अपनी प्रखर प्रतिभा और प्रबल पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रभावके कारण सम्पूर्ण उड़ीसादेशको भक्ति-रसामृतमें प्लावित बना दिया। श्रीनिवासाचार्यने वैष्णवसमाजमें नवीन जागृति पैदा की और नरोत्तम ठाकुरने शिथिल होते हुए वैष्णवधर्मको फिरसे प्रभावान्वित बना दिया। बड़े पण्डित और भट्टाचार्य अपने ब्राह्मणपनेके अभिमानको छोड़कर कायस्थकुलोद्भूत श्रीनरोत्तम ठाकुरके मन्त्रशिष्य

बन गये। इनका प्रभाव सभी श्रेणीके लोगोंपर पड़ता था। इनके पिता भी इन्हें पूज्य दृष्टिसे देखते थे। उन्होंने इन्हींके आदेशानुसार श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका एक बड़ा भारी मन्दिर बनवाया और उसमें श्रीगौराङ्ग और विष्णुप्रियाजीकी युगल मूर्तियोंकी स्थापना की गयी। इसके उपलक्ष्यमें एक बड़ा भारी महामहोत्सव किया और बहुत दिनोंतक निरन्तर कीर्तन-सत्सङ्ग होता रहा।

नरोत्तम ठाकुरका प्रभाव उन दिनों बहुत ही अधिक था, बड़े-बड़े राजे-महाराजे इनके मन्त्र-शिष्य थे। बड़े पण्डित इन्हें निःसङ्कोच भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करते। ये बँगला भाषाके सुकवि भी थे। इन्होंने गौरप्रेममें उन्मत्त होकर हजारों पदोंकी रचना की है। इनकी पदावलियोंका वैष्णवसमाजमें बड़ा आदर है। इन्होंने परमायु प्राप्त की थी। अन्तसमय ये गङ्गाजीके किनारे गम्भीला नामक ग्राममें अपने एक शिष्य गङ्गानारायण पण्डितके यहाँ चले गये।

कार्तिककी कृष्णा पञ्चमीका दिन था। प्रातःकाल ठाकुर महाशय अपने प्रिय शिष्य गङ्गानारायण पण्डित तथा रामकृष्णके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त गये। वे कमरतक जलमें चले गये और अपने शिष्योंसे कहा—'हमारे शरीरको तो थोड़ा मलो।' शिष्योंने गुरुदेवकी आज्ञाका पालन किया। देखते-ही-देखते ठाकुर महाशयका निर्जीव शरीर गङ्गामाताके सुशीतल जलमें गिरकर अठखेलियाँ करने लगा। नरोत्तम ठाकुर इस असार संसारको त्यागकर अपने सत्य और नित्य लोकको चले गये। वैष्णवोंके हाहाकारसे गङ्गाका किनारा गूँजने लगा। गङ्गामाताका हृदय भी अपने लाड़िले पुत्रके शोकसे उमड़ने लगा और वह भी अपनी मर्यादाको छोड़कर बढ़ने लगी।

महाप्रभुके वृन्दावनस्थ छः गोस्वामिगण

रुद्रोऽद्रिं जलधिं हरिर्दिविषदो दूरं विहायाश्रिताः
फणीन्द्राः प्रबला अपि प्रथमतः पातालमूले स्थिताः ।
लीना पङ्कवने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थाद्भिया
दीनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पूरुषाः केवलम् ॥*

(सु० र० भां० ७४ । ४४)

महाप्रभु चैतन्यदेवके छः गोस्वामी अत्यन्त ही प्रसिद्ध हैं । उनके नाम (१) श्रीरूप, (२) श्रीसनातन, (३) श्रीजीव, (४) श्रीगोपाल,

---

* याचकोंका समूह मुझसे कुछ माँगने न लगे' इस भयसे भगवान् शंकर पर्वतपर रहने लगे, विष्णुने समुद्रमें डेरा डाला, समस्त देवताओंने सुदूरवर्ती आकाशकी शरण ली, वासुकि आदि नागराजोंने समर्थ होकर भी पहलेसे ही पातालमें अपना स्थान बना लिया है और लक्ष्मीजी कमलवनमें छिप गयीं । अब तो इस कलिकालमें केवल संत पुरुष ही दीनोंका उद्धार करनेवाले रह गये हैं ।

भट्ट, (५) श्रीरघुनाथ भट्ट और (६) श्रीरघुनाथदासजी हैं। इन छहोंका थोड़ा-बहुत विवरण पाठक पिछले प्रकरणोंमें पढ़ ही चुके होंगे। श्रीरूप और सनातन तो प्रभुकी आज्ञा लेकर ही पुरीसे वृन्दावनको गये थे, बस तबसे वे फिर गौड़ देशमें नहीं लौटे। श्रीजीव इनके छोटे भाई अनूपके प्रिय पुत्र थे। पूरा परिवार-का-परिवार ही विरक्त बन गया। दैवी परिवार था। श्रीजीव गोस्वामी या तो महाप्रभुके तिरोभाव होनेके अनन्तर वृन्दावन पधारे होंगे, या प्रभुके अप्रकट होनेके कुछ ही काल पहले। इनका प्रभुके साथ भेंट होनेका वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता। ये नित्यानन्दजीकी आज्ञा लेकर ही वृन्दावन गये थे, इससे महाप्रभुका अभाव ही लक्षित होता है। रघुनाथ भट्टको प्रभुने स्वयं ही पुरीसे भेजा था। गोपाल भट्ट जब छोटे थे, तभी प्रभुने उनके घर दक्षिणकी यात्रामें चतुर्मास बिताया था, इसके अनन्तर पुनः इनको प्रभुके दर्शन नहीं हुए। रघुनाथदासजी प्रभुके लीलासंवरण करनेके अनन्तर और स्वरूपगोस्वामीके परलोक-गमनके पश्चात् वृन्दावन पधारे और फिर उन्होंने वृन्दावनकी पावन भूमि छोड़कर कहीं एक पैर भी नहीं रक्खा। व्रजमें ही वास करके उन्होंने अपनी शेष आयु व्यतीत की। इन सबका अत्यन्त ही संक्षेपमें पृथक्-पृथक् वर्णन आगे करते हैं।

१–श्रीरूपजी गोस्वामी

श्रीरूप और सनातनजीका परिचय पाठक पीछे प्राप्त कर चुके हैं, अनुमानसे श्रीरूपजीका जन्म संवत् १५४५ के लगभग बताया जाता है, ये अपने अग्रज श्रीसनातनजीसे साल-दो-साल छोटे ही थे, किन्तु प्रभुके प्रथम कृपापात्र होनेसे ये वैष्णव-समाजमें सनातनजीके बड़े भाई ही माने जाते हैं। रामकेलिमें इन दोनों भाइयोंकी प्रभुसे भेंट, रूपजीका प्रयागमें प्रभुसे मिलन, पुरीमें पुनः प्रभुके दर्शन-नाटकोंकी रचना, प्रभुकी आज्ञासे

प्रातःकाल वे उठकर उसी स्थानपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—'एक गौ वहाँ खड़ी है और उसके स्तनोंमेंसे आप-से-आप ही दूध बहकर एक छिद्रमें होकर नीचे जा रहा है।' तब तो उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। वे उसी समय उस स्थानको खुदवाने लगे। उसमेंसे गोविन्द-देवजीकी मनमोहिनी मूर्ति निकली, उसे लेकर वे पूजा करने लगे। कालान्तरमें जयपुरके महाराज मानसिंहजीने गोविन्ददेवजीका लाल पत्थरों-का एक बड़ा ही भव्य और विशाल मन्दिर बनवा दिया जो अद्यावधि श्रीवृन्दावनकी शोभा बढ़ा रहा है। औरङ्गजेबके आक्रमणके भयसे जयपुरके महाराज पीछेसे यहाँकी श्रीमूर्तिको अपने यहाँ ले गये थे। पीछे फिर 'नये गोविन्ददेवजी' का नया मन्दिर बना, जिसमें गोविन्ददेव-जीके साथ ही अगल-बगलमें श्रीचैतन्यदेव और श्रीनित्यानन्दजीके विग्रह भी पीछेसे स्थापित किये गये, जो अब भी विद्यमान हैं।

जब श्रीरूपजी नन्दग्राममें निवास करते थे, तब श्रीसनातनजी एक दिन उनके स्थानपर उनसे मिलने गये। इन्होंने अपने अग्रजको देखकर उनको अभिवादन किया और बैठनेके लिये सुन्दर-सा आसन दिया। श्रीरूपजी अपने भाईके लिये भोजन बनाने लगे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि भोजनका सभी सामान प्यारीजी ही जुटा रही हैं, सनातनजीको इससे बड़ा क्षोभ हुआ। वे चुपचाप बैठे देखते रहे। जब भोजन बनकर तैयार हो गया तो श्रीरूपजीने उसे भगवान्‌के अर्पण किया। भगवान् प्यारीजीके साथ प्रत्यक्ष होकर भोजन करने लगे। उनका जो उच्छिष्ट महाप्रसाद बचा उसको उन्होंने श्रीसनातनजीको भोजन कराया। उसमें अमृतसे भी बढ़कर दिव्य स्वाद था। सनातनजीने कहा—'भाई! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो रोज प्यारी-प्यारेके अधरामृत-उच्छिष्ट अन्नका प्रसाद पाते हो, किन्तु सुकुमारी लाड़िलीजीको तुम्हारे सामान जुटानेमें कष्ट होता होगा, यही सोचकर मुझे दुःख होता है।' इतना कहकर

गौड़देश होते हुए पुनः वृन्दावनमें आकर निरन्तर वास करते रहनेके समाचार तो पाठक पिछले अध्यायोंमें पढ़ ही चुके होंगे, अब इनके वृन्दावनवासकी दो-चार घटनाएँ सुनिये।

आप महाकुण्डके समीप निवास करते थे, एक दिन आप निराहार रहकर ही भजन कर रहे थे, भूख लग रही थी, किन्तु ये भजनको छोड़कर भिक्षाके लिये जाना नहीं चाहते थे, इतनेहीमें एक काले रंगका ग्वालेका छोकरा एक मिट्टीके पात्रमें दुग्ध लेकर इनके पास आया और बोला—'लो बाबा ! इसे पी लो। भूखे भजन क्यों कर रहे हो, गाँवोंमें जाकर भिक्षा क्यों नहीं कर आते।' तुम्हें पता नहीं—

भूखे भजन न होई, यह जानहिं सब कोई।

रूपजीने वह दुग्ध पीया। उसमें अमृतसे भी बढ़कर स्वाद निकला। तब तो वे समझ गये कि 'साँवरे रंगका छोकरा वही छलिया वृन्दावन-वासी है, वह अपने राज्यमें किसीको भूखा नहीं देख सकता।' आश्चर्यकी बात तो यह थी कि जिस पात्रमें वह छोकरा दुग्ध दे गया था, वह दिव्य पात्र पता नहीं अपने-आप ही कहाँ चला गया। इस समाचारको सुनकर श्रीसनातनजी दौड़े आये और उन्हें आलिङ्गन करके कहने लगे—'भैया ! यह मनमोहन बड़ा सुकुमार है, इसे कष्ट मत दिया करो। तुम स्वयं ही व्रजवासियोंके घरोंसे टुकड़े माँग लाया करो।' उस दिनसे श्रीरूपजी मधुकरी भिक्षा नित्यप्रति करने जाने लगे।

एक दिन श्रीगोविन्ददेवजीने इन्हें स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'भैया ! मैं अमुक स्थानमें जमीनके नीचे दबा हुआ पड़ा हूँ। एक गौ रोज मुझे अपने स्तनोंमेंसे दूध पिला जाती है, तुम उस गौको ही लक्ष्य करके मुझे बाहर निकालो और मेरी पूजा प्रकट करो।'

प्रातःकाल वे उठकर उसी स्थानपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—'एक गौ वहाँ खड़ी है और उसके स्तनोंमेंसे आप-से-आप ही दूध बहकर एक छिद्रमें होकर नीचे जा रहा है।' तब तो उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। वे उसी समय उस स्थानको खुदवाने लगे। उसमेंसे गोविन्द-देवजीकी मनमोहिनी मूर्ति निकली, उसे देखकर वे पूजा करने लगे। कालान्तरमें जयपुरके महाराज मानसिंहजीने गोविन्ददेवजीका लाल पत्थरोंका एक बड़ा ही भव्य और विशाल मन्दिर बनवा दिया जो अद्यावधि श्रीवृन्दावनकी शोभा बढ़ा रहा है। औरङ्गजेबके आक्रमणके भयसे जयपुरके महाराज पीछेसे यहाँकी श्रीमूर्तिको अपने यहाँ ले गये थे। पीछे फिर 'नये गोविन्ददेवजी' का नया मन्दिर बना, जिसमें गोविन्ददेव-जीके साथ ही अगल-बगलमें श्रीचैतन्यदेव और श्रीनित्यानन्दजीके विग्रह भी पीछेसे स्थापित किये गये, जो अब भी विद्यमान हैं।

जब श्रीरूपजी नन्दग्राममें निवास करते थे, तब श्रीसनातनजी एक दिन उनके स्थानपर इनसे मिलने गये। इन्होंने अपने अग्रजको देखकर उनको अभिवादन किया और बैठनेके लिये सुन्दर-सा आसन दिया। श्रीरूपजी अपने भाईके लिये भोजन बनाने लगे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि भोजनका सभी सामान प्यारीजी ही जुटा रही हैं, सनातनजीको इससे बड़ा क्षोभ हुआ। वे चुपचाप बैठे देखते रहे। जब भोजन बनकर तैयार हो गया तो श्रीरूपजीने उसे भगवान्‌के अर्पण किया, भगवान् प्यारीजीके साथ प्रत्यक्ष होकर भोजन करने लगे। उनका जो उच्छिष्ट महाप्रसाद बचा उसका उन्होंने श्रीसनातनजीको भोजन कराया। उसमें अमृतसे भी बढ़कर दिव्य स्वाद था। सनातनजीने कहा—'भाई! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो रोज प्यारी-प्यारेके अधरामृत-उच्छिष्ट अन्नका प्रसाद पाते हो, किन्तु सुकुमारी लाड़िलीजीको तुम्हारे सामान जुटानेमें कष्ट होता होगा, यही सोचकर मुझे दुःख होता है।' इतना कहकर

श्रीसनातनजी चले गये और उनका जो उच्छिष्ट महा-महाप्रसाद शेष रहा उसको बड़ी ही रुचि और स्वादके साथ श्रीरूपजीने पाया।

किसी काव्यमें श्रीरूपजीने प्यारीजीकी वेणीकी काली नागिनसे उपमा दी थी। यह सोचकर सनातनजीको बड़ा दुःख हुआ कि भला प्यारीजीके अमृतपूर्ण आननके समीप विषवाली काली नागिनीका क्या काम! वे इसी चिन्तामें मग्न ही थे कि उन्हें सामनेके कदम्बके वृक्षपर प्यारेके साथ प्यारीजी झूलती हुई दिखायी दीं। उनके सिरपर काले रंगकी नागिन-सी लहरा रही थी, उसमें क्रूरताका काम नहीं, क्रोध और विषका नाम नहीं। वह तो परम सौम्या, प्रेमियोंके मनको हरनेवाली और चञ्चला-चपला मही ही चित्तको अपनी ओर खींचनेवाली नागिन थी। श्रीसनातनजीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उनकी शङ्काका समाधान प्यारीजीने स्वतः ही अपने दुर्लभ दर्शनोंको देकर कर दिया।

इस प्रकार इनके भक्ति और प्रेमके माहात्म्यकी बहुत-सी कथाएँ कही जाती हैं। ये सदा युगल-माधुरीके रूपमें छके-से रहते थे। थके-से, जके-से, भूले-से, भटके-से ये सदा वृन्दाविपिनकी वनवीथियोंमें विचरण किया करते थे। इनका आहार था प्यारे-प्यारीकी रूपसुधाका पान, बस उसीके मदमें ये सदा मस्त बने रहते। ये सदा प्रेममें मग्न रहकर नामजप करते रहते और शेष समयमें भक्तिसम्बन्धी पुस्तकोंका प्रणयन करते। इनके बनाये हुए भक्तिभावपूर्ण सोलह ग्रन्थ मिलते हैं।

(१) हंसदूत, (२) उद्धवसन्देश, (३) कृष्णजन्मतिथिविधि, (४) गणोद्देशदीपिका, (५) स्तवमाला, (६) विदग्धमाधव, (७) ललितमाधव, (८) दानलीला, (९) दानकेलिकौमुदी, (१०) भक्तिरसामृतसिन्धु, (११) उज्ज्वलनीलमणि, (१२) मथुरामाहात्म्य,

(१३) आख्यातचन्द्रिका, (१४) पद्यावली, (१५) नाटकचन्द्रिका और (१६) लघुभागवतामृत।

वृन्दावनमें रहकर इन्होंने श्रीकृष्ण-प्रेमका साकार रूप खड़ा करके दिखला दिया। ये सदा नामसंकीर्तन और पुस्तक-प्रणयनमें ही लगे रहते थे। 'वृन्दावनकी यात्रा' नामक पुस्तकमें इनके वैकुण्ठवासकी तिथि संवत् १६४० (ईसवी सन् १५६३) की श्रावण शुक्ला द्वादशी लिखी है। इस प्रकार ये लगभग ७४ वर्षोंतक इस धराधामपर विराजमान रहकर भक्तितत्त्वका प्रचार करते रहे।

२—श्रीसनातनजी गोस्वामी

श्रीसनातनजीका जन्म संवत् १५४४ के लगभग अनुमान किया जाता है, इनके कारावासका वृत्तान्त, उससे मुक्तिलाभ करके प्रयागमें आगमन, प्रभुके पादपद्मोंमें रहकर शास्त्रीय शिक्षाका श्रवण, वृन्दावन-गमन, पुनः लौटकर पुरीमें आगमन, शरीरमें भयंकर खुजलीका हो जाना, श्रीजगन्नाथजीके रथके नीचे प्राण त्यागनेका निश्चय, प्रभुकी आज्ञासे वृन्दावनमें जाकर भजन और पुस्तकप्रणयन करते रहनेका वृत्तान्त तो पाठक पीछे पढ़ ही चुके होंगे, अब इनके सम्बन्धकी भी वृन्दावनकी दो-चार घटनाएँ सुनिये।

एक दिन ये श्रीयमुनाजी स्नान करनेके निमित्त जा रहे थे, रास्तेमें एक पारस पत्थरका टुकड़ा इन्हें पड़ा हुआ मिला। इन्होंने उसे वहीं धूलिसे ढक दिया। दैवात् उसी दिन एक ब्राह्मण उनके पास आकर धनकी याचना करने लगा। इन्होंने बहुत कहा—'भाई! हम भिक्षुक हैं, माँगकर टुकड़े खाते हैं, भला हमारे पास धन कहाँ है, किसी धनी सेठ साहूकारके समीप जाओ।' किन्तु वह मानता ही नहीं था, उसने कहा—'श्रीमहाराज! मैंने धनकी कामनासे ही अनेकों वर्षोंतक शिवकी

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
वह लोहा सोना करे, यह करे आपु समान॥

ये मथुराजीमें मधुकरी करनेके लिये एक चौबेके घर जाया करते थे। उस चौबेकी स्त्री परम भक्ता और श्रीमदनमोहन भगवान्‌की उपासिका थी। उसके घर बालभावसे श्रीमदनमोहन भगवान् विराजते थे। सनातनजी उनकी मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न होते, असलमें तो ये मदनमोहनजीके दर्शनोंके ही लिये वहाँ जाते थे। उस चौबिनका एक छोटा-सा बालक था। मदनमोहन भी बालक ही ठहरे। दोनोंमें खूब दोस्ती थी। मदनमोहन तो गँवार ग्वाले ही ठहरे। वे आचार-विचार क्या जानें। उस चौबिनके लड़केके साथ ही एक पात्रमें भोजन करते। सनातनजीको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये मदनमोहन सरकार बड़े विचित्र हैं।

एक दिन ये मधुकरी लेने गये। चौबिन इन्हें भिक्षा देने लगी। इन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'माता! यदि तुम मुझे कुछ देना ही चाहती हो तो इस बच्चेका उच्छिष्ट अन्न मुझे दे दो।' चौबिनने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इन्हें वही मदनमोहनका उच्छिष्ट प्रसाद दे दिया। बस, फिर क्या था, इन्हें तो उस माखनचोरकी लपलपाती जीभसे लगे हुए अन्नका चस्का लग गया, ये नित्यप्रति उसी उच्छिष्ट अन्नको लेने जाने लगे।

एक दिन स्वप्नमें मदनमोहनजीने कहा—'भाई! शहरमें तो हमें अच्छी मालूम पड़ती है, तुम उस चौबिनसे मुझे ले आओ, मैं तो जंगलमें ही रहूँगा।' ठीक उसी रात्रिको चौबिनको भी यही स्वप्न हुआ कि तू मुझे सनातन साधुको दे दे। दूसरे दिन ये गये और इन्होंने

आराधना की, इसलिये शिवजीने सन्तुष्ट होकर रात्रिके समय स्वप्नमें मुझसे कहा—'हे ब्राह्मण ! तू जिस इच्छासे मेरा पूजन करता है, वह इच्छा तेरी वृन्दावनमें सनातन गोस्वामीके समीप जानेसे पूर्ण होगी।' बस, उन्हींके स्वप्नसे मैं आपकी शरण आया हूँ।' इसपर सनातनजीको उस पारस पत्थरकी याद आ गयी। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, मेरे साथ यमुनाजी चलो।' यह कहकर वे उसे यमुना-किनारे ले गये। दूरसे ही अँगुलीके इशारेसे इन्होंने उसे पारसकी जगह बता दी। उसने बहुत ढूँढ़ा, किन्तु पारस नहीं मिला। तब तो उसने कहा—'आप मेरी वञ्चना न कीजिये, यदि हो तो आप ही ढूँढ़कर दे दीजिये।'

इन्होंने कहा—'भाई! इसमें वञ्चनाकी बात ही क्या है, मैं तो उसका स्पर्श नहीं कर सकता, तुम धैर्यके साथ ढूँढ़ो, वहीं मिल जायगा।' ब्राह्मण ढूँढ़ने लगा, सहसा उसे पारसका टुकड़ा मिल गया। उसी समय उसने एक लोहेके टुकड़ेसे उसे छुआकर उसकी परीक्षा की, देखते-ही-देखते लोहेका टुकड़ा सोना बन गया। ब्राह्मण प्रसन्न होकर अपने घरको चल दिया।

वह आधे ही रास्तेमें पहुँचा होगा कि उसका विचार एकदम बदल गया। उसने सोचा—'जो महापुरुष घर-घरसे टुकड़े माँगकर खाते हैं और संसारमें इतनी अमूल्य समझी जानेवाली इस मणिको हाथसे स्पर्श नहीं करते। अवश्य ही उनके पास इस असाधारण पत्थरसे बढ़कर भी कोई और वस्तु है। मैं तो उनसे उसीको प्राप्त करूँगा। इस पारस-को देकर तो उन्होंने मुझे बहका दिया।' यह सोचकर वह लौटकर फिर इनके समीप आया और चरणोंमें गिरकर रो-रोकर अपनी सभी मनोव्यथा सुनायी। उसके सच्चे वैराग्यको देखकर इन्होंने पारसको यमुनाजीमें फेंकवा दिया और उसे अमूल्य हरिनामका उपदेश किया। जिससे कुछ कालमें वह परम संत बन गया। किसीने ठीक ही कहा है—

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
वह लोहा सोना करै, यह करै आपु समान॥

ये मथुराजीमें मधुकरी करनेके लिये एक चौबेके घर जाया करते थे। उस चौबेकी स्त्री परम भक्ता और श्रीमदनमोहन भगवान्‌की उपासिका थी। उसके घर वात्सल्यभावसे श्रीमदनमोहन भगवान् विराजते थे। सनातनजी उनकी मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न होते, असलमें तो ये मदनमोहनजीके दर्शनोंके ही लिये वहाँ जाते थे। उस चौबिनका एक छोटा-सा बालक था। मदनमोहन भी बालक ही ठहरे। दोनोंमें खूब दोस्ती थी। मदनमोहन तो गँवार ग्वाले ही ठहरे। वे आचार-विचार क्या जानें। उस चौबिनके लड़केके साथ ही एक पात्रमें भोजन करते। सनातनजीको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये मदनमोहन सरकार बड़े विचित्र हैं।

एक दिन ये मधुकरी लेने गये। चौबिन इन्हें भिक्षा देने लगी। इन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'माता! यदि तुम मुझे कुछ देना ही चाहती हो तो इस बच्चेका उच्छिष्ट अन्न मुझे दे दो।' चौबिनने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इन्हें वही मदनमोहनका उच्छिष्ट प्रसाद दे दिया। बस, फिर क्या था, इन्हें तो उस माखनचोरकी लपलपाती जीभसे लगे हुए अन्नका चस्का लग गया। ये नित्यप्रति उसी उच्छिष्ट अन्नको लेने जाने लगे।

एक दिन स्वप्नमें मदनमोहनजीने कहा—'भाई! शहरमें तो हमें उमस-सी मालूम पड़ती है, तुम उस चौबिनसे मुझे ले आओ, मैं तो जंगलमें ही रहूँगा।' ठीक उसी रात्रिको चौबिनको भी यही स्वप्न हुआ कि तू मुझे सनातन साधुको दे दे। दूसरे दिन ये गये और इन्होंने

कहा—'माताजी ! मदनमोहन अब वनमें रहना चाहते हैं, तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

कुछ प्रेमयुक्त रोषके स्वरमें चौबिनने कहा—'साधु बाबा ! इसकी यह सब करतूत मुझे पहलेसे ही मालूम है। एक जगह रहना तो यह जानता ही नहीं, यह बड़ा निर्मोही है, कोई इसका सगा नहीं।' भला, जिस यशोदाने इसका लालन-पालन किया, खिला-पिलाकर इतना बड़ा किया, उसे भी बटाऊकी तरह छोड़कर चला गया। मुझसे भी कहता था—'मेरा यहाँ मन नहीं लगता।' मैंने भी सोच लिया—'मन नहीं लगता तो मेरी बलासे।, जब तुझे ही मेरा मोह नहीं, तो मुझे भी तेरा मोह नहीं। भले ही तू साधुके साथ चला जा।' ऐसा कहते-कहते आँखोंमें आँसू भरकर उसने मदनमोहनको सनातनजीके साथ कर दिया। ऊपरसे तो वह ऐसी बातें कह रही थी, किन्तु उसका हृदय अपने मदनमोहनके विरहसे तड़फ रहा था। सनातनजी मदनमोहनको साथ लेकर यमुनाके किनारे आये। अब मदनमोहनके रहनेके लिये उन्होंने सूर्यघाटके समीप एक सुरम्य टीलेपर फूँसकी झोंपड़ी बना ली और उसीमें वे मदनमोहनकी पूजा करने लगे। अब वे घर-घरसे आटेकी चुटकी माँग लाते और उसीकी बिना नमककी मधुकरी बनाकर मदनमोहनको भोजन कराते।

एक दिन मदनमोहनने मुँह बनाकर कहा—'साधु बाबा ! ये बिना नमककी बाटियाँ हमसे तो खायी नहीं जातीं। थोड़ा नमक भी किसीसे माँग लाया करो।'

सनातनजीने झुँझलाकर कहा—'यह इल्लत मुझसे मत लगाओ, खानी हो तो ऐसी ही खाओ, नहीं अपने घरका रास्ता पकड़ो।'

मदनमोहन सरकारने कुछ हँसकर कहा—'एक कंकड़ी नमकको

कौन मना करेगा, कहींसे ले आना माँगकर ।' दूसरे दिनसे ये आटेके साथ थोड़ा नमक भी लाने लगे ।

चटोरे मदनमोहनको तो मीठे माखन और मिश्रीकी चाट पड़ी हुई थी, इसलिये एक दिन बड़ी ही दीनतासे बोले—'साधु बाबा ! ये रूखे टिक्कड़ तो हमारे गलेके नीचे नहीं उतरते । थोड़ा घी भी कहींसे लाया करो तो अच्छा है ।'

अब सनातनजी मदनमोहनजीको खरी-खरी सुनाने लगे । उन्होंने कहा—'देखो जी ! सुनो मेरी सच्ची बात । मेरे पास तो ये ही सूखे टिक्कड़ हैं, तुम्हें घी-चीनीकी चाट थी तो किसी धनिकके यहाँ जाते। मुझ भिक्षुकके यहाँ तो ये ही सूखे टिक्कड़ मिलेंगे । तुम्हारे गलेके नीचे उतरें चाहे न उतरें, मैं किसी धनिकके पास घी-बूरा माँगने नहीं जाऊँगा । थोड़े यमुना-जलके साथ सटक लिया करो । मिट्टी भी तो सटक जाते थे ।' बेचारे मदनमोहन अपना-सा मुँह बनाये चुप हो गये । उस लँगोटीबंद साधुसे वे और कह ही क्या सकते थे ।

दूसरे दिन उन्होंने देखा, एक बड़ा भारी धनिक व्यापारी उनके समीप आ रहा है । ये बैठे भजन कर रहे थे, उसने दूरसे ही इनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बड़े ही करुणस्वरसे कहने लगा—'महात्माजी ! मेरा जहाज यमुनाजीमें अड़ गया है, ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि वह निकल जाय, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ।' इन्होंने कहा—'भाई ! मैं कुछ नहीं जानता, इस झोंपड़ीमें जो बैठा है, उससे कहो ।'

व्यापारीने भगवान् मदनमोहनसे प्रार्थना की—'हे भगवन् ! यदि मेरा जहाज निकल जाय, तो बिक्रीके आधे द्रव्यसे मैं आपकी सेवा करूँ ।' बस, फिर क्या था, जहाज उसी समय निकल गया । उन दिनों नदियोंके द्वारा नावसे ही व्यापार होता था । रेल, तार और

मोदर आदि मन्त्र तो सब थे ही नहीं। महाजनका माल दुगुने दामोंमें बिका। उसी समय उसने हजारों रुपये लगाकर बड़ी उदारताके साथ मदनमोहनजीका मन्दिर बनवा दिया। और भगवान्‌की सेवाके लिये पुजारी, रसोइया, नौकर-चाकर तथा और भी बहुत-से कामवाले रख दिये। वह मन्दिर वृन्दावनमें अभीतक विद्यमान है।

इनकी ख्याति सुननेपर अकबर बादशाह इनके दर्शनोंके लिये आया और इनसे कुछ सेवाके लिये प्रार्थना करने लगा। जब बहुत मना करनेपर भी वह न माना तब इन्होंने अपने कुटियाके समीपके यमुनाजीके फूटे हुए घाटके कोनेको सुधरवानेकी आज्ञा दी। उसी समय अकबरको वहाँकी सभी भूमि अमूल्य रत्नोंसे जटित दिखायी देने लगी। तब तो वह इनके पैरोंमें गिरकर कहने लगा—'प्रभो! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये, मेरा सम्पूर्ण राज्य भी यहाँके एक रत्नके मूल्यके बराबर नहीं।' यही घटना श्रीहरिदास स्वामीजीके सम्बन्धमें भी कही जाती है, दोनों ही ठीक हैं। भक्तोंकी लीला अपरम्पार है, उन्हें श्रद्धापूर्वक सुन लेना चाहिये। तर्क करना हो तो दर्शनशास्त्रोंको पढ़ो।

इन्होंने भी भक्तितत्वकी खूब पर्यालोचना की है, इनके बनाये हुए चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) बृहद्भागवतामृत (दो खण्ड), (२) हरिभक्तिविलास, टीकादिक्प्रदर्शिनी, (३) वैष्णवतोषिणी (दशम स्कन्धकी टिप्पणी), (४) लीलास्तव (दशम चरित्र)।

सत्तर वर्षकी आयुमें सं० १६१५ (ईस्वी सन् १५५८) की आषाढ़ सुदी चतुर्दशीके दिन इनका गोलोकगमन बताया जाता है। ये परम विनयी, भागवत और भगवत्-रस-रसिक वैष्णव थे।

३—श्रीजीव गोस्वामीजी

श्रीअनूप-तनय स्वामी श्रीजीवजीका वैराग्य परमोत्कृष्ट था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्रियोंके दर्शनतक नहीं करते थे। पिताके वैकुण्ठ-वास हो जानेपर और दोनों ताउओंके गृहत्यागी विरागी बन जानेपर इन्होंने भी उन्हींके पथका अनुसरण किया और ये भी सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीवृन्दावनमें जाकर अपने पितृव्योंके चरणोंका अनुसरण करते हुए शास्त्र चिन्तन और श्रीकृष्ण-कीर्तनमें अपना समय बिताने लगे। ये अपने समयके एक नामी पण्डित थे। व्रजमण्डलमें इनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। देवताओंको भी अप्राप्य व्रजकी पवित्र भूमिको परित्याग करके ये कहीं भी किसीके आग्रहसे बाहर नहीं जाते थे। सुनते हैं, एक बार अकबर बादशाहने अत्यन्त ही आग्रहके साथ इन्हें आगरे बुलाया था और इनकी आज्ञानुसार ही उसने इन्हें घोड़ागाड़ीमें बैठाकर उसी दिन रात्रिको वृन्दावन पहुँचा दिया था। इनके सम्बन्धकी भी दो-एक घटना सुनिये—

सुनते हैं, एक बार कोई दिग्विजयी पण्डित दिग्विजयकी इच्छासे वृन्दावनमें आया। श्रीरूप तथा सनातनजीने तो उससे बिना शास्त्रार्थ किये ही विजयपत्र लिख दिया। किन्तु श्रीजीव गोस्वामी उससे भिड़ गये और उसे परास्त करके ही छोड़ा। इस समाचारको सुनकर श्रीरूप गोस्वामीने इन्हें डाँटा और यहाँतक कह दिया—'जो वैष्णव दूसरोंको मान नहीं देना जानता, वह सच्चा वैष्णव ही नहीं। तुमें जय-पराजयसे क्या? तुम जयकी इच्छासे उससे भिड़ पड़े इसलिये अब हमारे सामने मत आना।' इससे इन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ और ये अनशन करके यमुना-किनारे जा बैठे। श्रीसनातनजीने जब यह समाचार सुना तो

उन्होंने रूप गोस्वामीके पास आकर पूछा—'वैष्णवोंको जीवके ऊपर दया करनी चाहिये अथवा अदया ।'

श्रीरूपजीने कहा—'यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि वैष्णवको जीवमात्रके प्रति दयाके भाव प्रदर्शित करने चाहिये ।'

बस, इतना सुनते ही सनातनजीने जीव गोस्वामीजीको उनके पैरोंमें पड़नेका संकेत किया । जीव गोस्वामी अधीर होकर उनके पैरोंमें गिर पड़े और अपने अपराधको स्मरण करके बालकोंकी भाँति फूट-फूट-कर रुदन करने लगे । श्रीरूपजीका हृदय भर आया, उन्होंने इन्हें हृदयसे लगाया और इनके अपराधको क्षमा कर दिया ।

सुनते हैं, परम भक्ता मीराबाई भी इनसे मिली थीं । उन दिनों ये एकान्तमें वास करते थे और स्त्रियोंको इनके आश्रममें जानेकी मनाही थी । जब मीराबाईने इनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और उन्हें उत्तर मिला कि वे स्त्रियोंसे नहीं मिलते, तब मीराबाईजीने सन्देश पठाया—'वृन्दावन तो बाँकेबिहारीका अन्तःपुर है । इसमें गोपिकाओंके सिवा किसी दूसरेका प्रवेश नहीं । ये बिहारीजीके नये पट्टीदार पुरुष और कहींसे आ बसे, इन्हें किसी दूसरे स्थानकी खोज करनी चाहिये ।' इस बातसे इन्हें परम प्रसन्नता हुई और ये मीराबाईजीसे बड़े प्रेमसे मिले ।

इन्होंने एक योग्य आचार्यकी भाँति भक्ति-मार्गका खूब ही प्रचार किया । अपने पितृव्योंकी भाँति इन्होंने भी बहुत-से ग्रन्थ बनाये । कृष्णदास गोस्वामीने इन तीनोंके ही ग्रन्थोंकी संख्या चार लाख बतायी है । यहाँ ग्रन्थसे तात्पर्य अनुष्टुप्छन्द या एक श्लोकसे है । पुस्तकसे नहीं । श्रीरूपके बनाये हुए सब एक लक्ष ग्रन्थ या श्लोक बताये जाते हैं । सब पुस्तकोंमें इतने श्लोक हो सकते हैं । श्रीजीव गोस्वामीके बनाये

हुए नीचे लिखे ग्रन्थ मिलते हैं—श्रीभागवत षट्सन्दर्भ, वैष्णवतोषिणी, लघुतोषिणी और गोपालचम्पू।

इनके वैकुण्ठवासकी ठीक-ठीक तिथि या संवत्का पता हमें किसी भी ग्रन्थसे नहीं चला।

४—श्रीरघुनाथदासजी गोस्वामी

श्रीरघुनाथदासजीका वैराग्य, गृहत्याग और पुरीनिवासका वृत्तान्त तो पाठक पढ़ ही चुके होंगे। महाप्रभु तथा श्रीस्वरूपगोस्वामीके तिरोभावके अनन्तर ये अत्यन्त ही दुःखी होकर वृन्दावन चले आये। इनकी इच्छा थी कि इस गोवर्धनपर्वतसे कूदकर अपने प्राणोंको गँवा दें, किन्तु श्रीरूप-सनातन आदिके समझाने-बुझानेपर इन्होंने शरीरत्यागका विचार परित्याग कर दिया। ये राधाकुण्डके समीप सदा वास करते थे। कहते हैं, ये चौबीस घंटेमें केवल एक बार थोड़ा-सा मट्ठा पीकर ही रहते थे। ये सदा प्रेममें विभोर होकर 'राधे-राधे' चिल्लाते रहते। इनका जन्म-संवत् अनुमानसे १४१६ शकाब्द बताया जाता है, इन्होंने अपनी पूर्ण आयुका उपभोग किया। जब शकाब्द १५१२ में श्रीनिवासाचार्यजी गौड़देशको आ रहे थे, तब इनका जीवित रहना बताया जाता है। इनका त्याग-वैराग्य बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक था। इन्होंने जीवनभर कभी जिह्वाका स्वाद नहीं लिया, सुन्दर वस्त्र नहीं पहने, और भी किसी प्रकारके संसारी सुखका उपभोग नहीं किया। लगभग सौ वर्षोंतक ये अपने त्याग-वैराग्यमय आलोकसे इस स्वार्थपूर्ण संसारके वायुमण्डलको पवित्रता प्रदान करते रहे। इनके बनाये हुए (१) स्तवमाला, (२) स्तवावली और (३) श्रीदामचरित—ये तीन ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनके समान त्यागमय जीवन किसका हो सकता है? राजपुत्र होकर भी इतना त्याग!

दास महाशय ! आपके श्रीचरणोंमें हमारे कोटि-कोटि प्रणाम हैं। प्रभो ! इस वासनायुक्त अधमके हृदयमें भी अपनी शक्तिका संचार कीजिये।

५—श्रीरघुनाथ भट्ट

हम पहले ही बता चुके हैं, तपन मिश्रजीके सुपुत्र श्रीरघुनाथ भट्ट अपने माता-पिताके परलोकगमनके अनन्तर आठ महीने प्रभुके पादपद्मोंमें रहकर उन्हींकी आज्ञासे वृन्दावन जाकर रहने लगे थे। ये भागवतके बड़े भारी पण्डित थे, इनका स्वर बड़ा ही कोमल था। ये रूप गोस्वामीकी सभामें श्रीमद्भागवतकी कथा कहते थे। इनका जन्म-संवत् अनुमानसे १४२५ बताया जाता है। ये कितने दिनतक अपने कोकिल-कूजित कमनीय कण्ठसे श्रीमद्भागवतकी कूक मचाकर वृन्दावनको बारहों महीने वसन्त बनाये रहे, इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त नहीं मिलता।

६—श्रीगोपाल भट्ट

ये श्रीरङ्गक्षेत्रनिवासी वेङ्कट भट्टके पुत्र तथा श्रीप्रकाशानन्दजी सरस्वतीके भतीजे थे। पिताके परलोकगमनके अनन्तर ये श्रीवृन्दावन-वास करनेके निमित्त चले आये। दक्षिण-यात्रामें जब ये छोटे थे तभी प्रभुने इनके घरपर चौमासेके चार मास बिताये थे। उसके बाद इनकी फिर महाप्रभुसे भेंट नहीं हुई। इनके आगमनका समाचार श्रीरूप-सनातनजीने प्रभुके पास पठाया था, तब प्रभुने एक पत्र भेजकर रूप और सनातन इन दोनों भाइयोंको लिखा था कि इन्हें स्नेहसे अपने पास रखना और अपना सगा भाई ही समझना। महाप्रभुने अपने बैठनेका आसन और डोरी इनके लिये भेजी थी। इन दोनों प्रभु-प्रसादी अमूल्य वस्तुओंको पाकर ये परम प्रसन्न हुए। ध्यानके समय

थे प्रभुकी प्रसादी डोरीको शिरपर धारण करके भजन किया करते थे। इनके उपास्यदेव श्रीराधारमणजी थे।

सुनते हैं, इनके उपास्यदेव पहले शालग्रामके रूपमें थे, उन्हींकी ये सेवा-पूजा किया करते थे, एक बार कोई धनिक वृन्दावनमें आया। उसने सभी मन्दिरोंके ठाकुरोंके लिये सुन्दर वस्त्राभूषण प्रदान किये। इन्हें भी लाकर बहुत-से सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और गहने दिये। वस्त्र और गहनोंको देखकर इनकी इच्छा हुई कि यदि हमारे भी ठाकुरजीके हाथ-पैर होते तो हम भी उन्हें इन वस्त्राभूषणोंको धारण कराते। बस, फिर क्या था। भगवान् तो भक्तके अधीन हैं, वे कभी भक्तकी इच्छाको अन्यथा नहीं करते। उसी समय शालग्रामकी मूर्तिमेंसे हाथ-पैर निकल आये और भगवान् श्रीराधारमण मुरलीधारी श्याम बन गये। भट्टजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भगवान्‌को वस्त्राभूषण पहनाये और भक्तिभावसे उनकी स्तुति की। श्रीगिधासाचार्यजी इन्हींके शिष्य थे। इनके मन्दिरके पुजारी श्रीगोपालनाथदासजी भी इनके शिष्य थे। इनके परलोकगमनके अनन्तर श्रीगोपालनाथदासजी ही उस गद्दीके अधिकारी हुए। श्रीगोपालनाथदासजीके शिष्य श्रीगोपीनाथदासजीने अपने छोटे भाई दामोदरदासजीको शिष्य बनाकर उनसे विवाह करनेके लिये कह दिया। वर्तमान श्रीराधारमणजीके गोस्वामिगण इन्हीं श्रीदामोदरजी-के वंशज हैं। वृन्दावनमें श्रीराधारमणजीकी वही मनोहर मूर्ति अपने अद्भुत और अलौकिक प्रभावको धारण किये हुए अपने प्रिय भक्त श्रीगोपाल भट्टकी भक्ति और एकनिष्ठाकी घोषणा कर रही है। भक्त-वत्सल भगवान् क्या नहीं कर सकते।

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !!

श्रीचैतन्य-शिक्षाष्टक

> प्रेमोद्भावितहर्षेर्ष्योद्वेगदैन्यार्तिमिश्रितम् ।
> लपितं गौरचन्द्रस्य भाग्यवद्भिर्निषेव्यते ॥*
>
> (श्रीचैतन्य चरि० अ० ली० २०।१)

महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवने संन्यास लेनेके अनन्तर अपने हाथसे किसी भी ग्रन्थकी रचना नहीं की। उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ था, वे तो सदा प्रेमवारुणी पान करके पागल-से बने रहते थे। ऐसी दशामें पुस्तक-प्रणयन करना उनके लिये अशक्य था। किन्तु उनके भक्तोंने उनके उपदेशामृतके आधारपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर डाली। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, रामानुज आदि बहुत-से महापुरुष अपनी अमर कृतिसे ही अन्धे हुए संसारको दिव्यालोक प्रदान करते हैं। दत्तात्रेय, जडभरत, ऋषभदेव, अजगरमुनि आदि बहुत-से सिद्ध महापुरुष अपने लोकातीत आचरणोंद्वारा ही संसारको त्याग, वैराग्य और भोगोंकी अनित्यताका पाठ पढ़ाते हैं।

---

* श्रीगौराङ्ग प्रभुके प्रेमवश प्रकट हुए हर्ष, ईर्ष्या, उद्वेग, दैन्य और आर्ति आदि भावोंसे मिश्रित प्रलापको भाग्यवान् पुरुष ही श्रवण कर पाते हैं।

बुद्धदेव, कबीरदास और परमहंस रामकृष्णदेव-जैसे बहुत-से परोपकारी महापुरुष अपनी अमोघ वाणीके ही द्वारा संसारका कल्याण करते हैं। श्रीचैतन्यदेवने तो अपने जीवनको ही प्रेमका साकार स्वरूप बनाकर मनुष्योंके सम्मुख रख दिया। चैतन्य-चरित्रकी मनुष्य ज्यों-ज्यों आलोचना और प्रत्यालोचना करेंगे, त्यों-ही-त्यों वे शास्त्रीय सिद्धान्त साम्प्रदायिक, संकुचित सीमासे निकलकर संसारके सम्मुख सार्वदेशिक बन सकेंगे। चैतन्यदेवने किसी नये धर्मकी रचना नहीं की। संन्यासधर्म या त्याग-धर्म जो ऋषियोंका सनातन धर्म है, उसीके वे शरणापन्न हुए और संसारके सम्मुख महान् त्यागका एक सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करके लोगोंको त्यागका यथार्थ मर्म सिखा दिया। समयके प्रभावसे ज्ञानमार्गमें जो शुष्कता आ गयी थी, संसारको असार बताते-बताते जिनका हृदय भी सारहीन और शुष्क बन गया था, उसी शुष्कताको उन्होंने मेटकर त्यागके साथ सरलताका भी सम्मिश्रण कर दिया। उस त्यागमय प्रेमने सोनेमें सुहागेका काम दिया। यही श्रीचैतन्यका मैंने सार सिद्धान्त समझा है। किन्तु मैं अपनी मान्यताके लिये अन्य किसीको बाध्य नहीं करता। पाठक, स्वयं चैतन्यचरित्रका अध्ययन करें और यथामति उनके सार सिद्धान्तका स्वयं ही पता लगानेका प्रयत्न करें। महाप्रभुने समय-समयपर आठ श्लोक कहे हैं। वे सब महाप्रभुरचित ही बताये जाते हैं। वैष्णवमण्डलीमें वे आठ श्लोक 'शिक्षाष्टक' के नामसे अत्यन्त ही प्रसिद्ध हैं। उनपर बड़ी टीका-टिप्पणियाँ भी लिखी गयी हैं। ग्रन्थके अन्तमें उन आठ श्लोकोंको अर्थसहित देकर हम इस ग्रन्थको समाप्त करते हैं। जो 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' को आदिसे अन्ततक पढ़ेंगे वे परम भागवत तथा प्रेमी तो अवश्य ही होंगे, यदि न भी होंगे तो इस चारु चरित्रके पठन और चिन्तनसे अवश्य ही वे प्रेमदेवकी मनमोहिनी मूर्तिके अनन्य उपासक बन जायँगे। चैतन्य-चरितावलीरूपी रसमयी

धाराने हमारे और पाठकोंके बीचमें एक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। चाहे हमारा 'चैतन्य-चरितावली' के सभी पाठकोंसे शरीर-सम्बन्ध न भी हो, किन्तु मानसिक सम्बन्ध तो उसी दिन जुड़ चुका जिस दिन उन्होंने अचैतन्य जगत्को छोड़कर चैतन्य-चरित्रकी खोज की। उन सभी प्रेमी बन्धुके श्रीचरणोंमें हृदयसे इस हृदयहीन नीरस लेखककी यही प्रार्थना है कि आपलोग कृपा करके अपने प्रेमका एक-एक कण भी इस दीन-हीन कंगालको प्रदान कर दें तो इसका कल्याण हो जाय। कहावत है—

'बूँद-बूँदसे घट भरे, टपकत रीतो होय।'

—अतः प्रत्येक पाठक हमारे प्रति थोड़ा भी प्रेम प्रदर्शित करनेकी कृपा करें तो हमारा यह रीता घड़ा परिपूर्ण हो जाय। क्या उदार और प्रेमी पाठक इतनी भिक्षा हमें दे सकेंगे? यह हम हृदयसे कहते हैं, हमें धनकी या और किसी सांसारिक उपभोगोंकी अभी तो इच्छा प्रतीत होती नहीं। आगेकी वह साँवला जाने। अच्छे-अच्छोंको लाकर फिर उसने इसी मायाजालमें फँसा दिया है, फिर हम-जैसे कीट-पतङ्गोंकी तो गणना ही क्या! उसे तो अभीतक देखा ही नहीं। शास्त्रोंसे यह बात सुनी है कि प्रेमी भक्त ही उसके स्वरूप हैं, इसीलिये उनके सामने अकिंचन भिखारीकी तरह हम पल्ला पसारकर भीख माँग रहे हैं। हमें यह भी विश्वास है कि इतने बड़े दाताओंके दरवाजोंसे हम निराश होकर न लौटेंगे, अवश्य ही हमारी झोलीमें वे कुछ-न-कुछ तो डालेंगे ही। भीख माँगनेवाला कोई गीत गाकर या कुछ कहकर ही दाताओंके चित्तको अपनी ओर खींचकर भीख माँगता है। अतः हम भी चैतन्योक्त इन आठ श्लोकोंको ही कहकर पाठकोंसे भीख माँगते हैं।

(१)

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

जो चित्तरूपी दर्पणके मैलको मार्जन करनेवाला है, जो संसाररूपी महादावाग्निको शान्त करनेवाला है, प्राणियोंको मङ्गलदायिनी कैरव चन्द्रिकाको वितरण करनेवाला है, जो विद्यारूपी वधूका जीवनस्वरूप है और आनन्दरूपी समुद्रको प्रतिदिन बढ़ानेहीवाला है उस श्रीकृष्णसंकीर्तनकी जय हो, जय हो !

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(२)

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

प्राणनाथ ! तुम्हारी कृपामें कुछ कसर नहीं और मेरे दुर्भाग्यमें कुछ सन्देह नहीं । भला, देखो तो सही तुमने 'नन्द-नन्दन' 'व्रजचन्द्र' 'मुरलीमनोहर' 'राधारमण' ये कितने सुन्दर-सुन्दर कानोंको प्रिय लगनेवाले अपने मनोहारी नाम प्रकट किये हैं, फिर ये नाम रीते ही हों सो बात नहीं, तुमने अपनी सम्पूर्ण शक्ति सभी नामोंमें समानरूपसे भर दी है । जिसका भी आश्रय ग्रहण करें, उसीमें तुम्हारी पूर्ण शक्ति मिल जायगी ।

सम्भव है, वैदिकक्रिया-कलापोंकी भाँति तुम उनके लेनेमें कुछ देश, काल और पात्रका नियम रख देते तो इसमें कुछ कठिनता होनेका भय भी था, सो तुमने तो इन बातोंका कोई भी नियम निर्धारित नहीं किया। स्त्री हो, पुरुष हो, द्विज हो, अन्त्यज हो, शूद्र हो, अनार्य हो, कोई भी क्यों न हो, सभी प्राणी शुचि-अशुचि किसीका भी विचार न करते हुए सभी अवस्थाओंमें, सभी समयोंमें सर्वत्र उन सुमधुर नामोंका संकीर्तन कर सकते हैं। हे भगवन्! तुम्हारी तो जीवोंके ऊपर इतनी भारी कृपा और मेरा ऐसा भी दुर्दैव कि तुम्हारे इन सुमधुर नामोंमें सच्चे हृदयसे अनुराग ही उत्पन्न नहीं होता।

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(३)

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

हरिनामसंकीर्तन करनेवाले पुरुषको किस प्रकारके गुरु बनाने चाहिये और दूसरोंके प्रति उसका व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसको कहते हैं—'भगवन्नाम लेनेवालेको मुख्यतया दो गुरु बनाने चाहिये—एक तो तृण और दूसरा वृक्ष।' तृणसे तो नम्रताकी दीक्षा ले, तृण सदा सबके पैरोंके नीचे ही पड़ा रहता है। कोई दयालु पुरुष उसे उठाकर आकाशमें चढ़ा भी देते हैं, तो वह फिर ज्यों-का-त्यों ही पृथ्वीपर आकर पड़ जाता है। वह स्वप्नमें भी किसीके सिरपर चढ़नेकी इच्छा नहीं करता। तृणके अतिरिक्त दूसरे गुरु 'वृक्ष' से 'सहिष्णुता' की दीक्षा लेनी चाहिये। सुन्दर वृक्षका जीवन परोपकारके ही लिये होता है। वह भेद-भाव शून्य होकर समानभावसे सभीकी सेवा करता रहता है।

जिसकी इच्छा हो वही उसकी सुखद शीतल सघन छायामें आकर अपने मनकी ताप बुझा ले। जो उसकी शाखाओंको काटता है, उसे भी वह वैसी ही शीतलता प्रदान करता है और जो जल तथा खादसे उसका सिंचन करता है, उसको भी वैसी ही शीतलता। उसके लिये शत्रु-मित्र दोनों समान हैं। उसके पुष्पोंकी सुगन्धि जो भी उसके पास पहुँच जाय, वही ले सकता है। उसके गोंदको जो चाहे छुटा लावे। उसके कच्चे-पके फलोंको जिसकी इच्छा हो, वही तोड़ लावे। वह किसीसे भी मना नहीं करेगा। दुष्ट स्वभाववाले पुरुष उसे खूब फलोंसे समृद्ध देखकर डाह करने लगते हैं और ईर्ष्यावश उसके ऊपर पत्थर फेंकते हैं किन्तु वह उनके ऊपर तनिक भी रोष नहीं करता, उलटे उसके पास यदि पके फल हुए तो सर्वप्रथम तो प्रहार करनेवालेको पके ही फल देता है, यदि पके फल उस समय न मौजूद हुए तो कच्चे ही देकर अपने अपकारीके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करता है। दुष्ट स्वभाववाले उसीकी छायामें बैठकर शान्तिलाभ करते हैं, पीछेसे उसकी सीधी शाखाओंको काटनेकी इच्छा करते हैं। वह बिना किसी आपत्तिके अपने शरीरको कटाकर उनके कामोंको पूर्ण करता है। उस तरुसे सहिष्णुता सीखनी चाहिये।

मान तो मृगतृष्णाका जल है, इसलिये मानके पीछे जो पड़ा, वह प्यासे हिरणकी भाँति सदा तड़प-तड़पकर ही मरता है, मानका कहीं अन्त नहीं, ज्यों-ज्यों आगेको बढ़ते चलो त्यों-ही-त्यों वह वालुकामय जल और अधिक आगे बढ़ता चलेगा। इसलिये वैष्णवको मानकी इच्छा कभी न करनी चाहिये, किन्तु दूसरोंको सदा मान प्रदान करते रहना चाहिये। सम्मानरूपी सम्पत्तिकी अनन्त खानि भगवान्ने हमारे हृदयमें दे रखी है। जिसके पास धन है और वह धनकी आवश्यकता रखनेवाले व्यक्तिको उसके माँगनेपर नहीं देता, तो वह 'कंजूस' कहलाता है।

इसलिये सम्मानरूपी धनको देनेमें किसीके साथ कंजूसी न करनी चाहिये। तुम परम उदार बनो, दोनों हाथोंसे सम्पत्तिको लुटाओ, जो तुमसे मानकी इच्छा रखतें उन्हें तो मान देना ही चाहिये, किन्तु जो न भी माँगें उन्हें भी बस भर-भरकर देते रहो। इससे तुम्हारी उदारतासे सर्वान्तर्यामी प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न होंगे। सभीमें उसी प्यारे प्रभुका रूप देखो। सभीको उनका ही विग्रह समझकर नम्रतापूर्वक प्रणाम करो। ऐसे बनकर ही इन सुमधुर नामोंके संकीर्तन करनेके अधिकारी बन सकते हो—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(४)

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कविता वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

संसारमें सब सुखोंकी खानि धन है। जिसके पास धन है, उसे किसी बातकी कमी नहीं। धनी पुरुषके पास गुणी, पण्डित तथा भाँति-भाँतिकी कलाओंके कोविद आप-से-आप ही आ जाते हैं। धनसे भी बढ़कर शक्तिशालिनी जन सम्पत्ति है। जिसकी आज्ञामें दस आदमी हैं। जिसके कहनेसे अनेकों आदमी क्षणभरमें रक्त बहा सकते हैं, वह अच्छे-अच्छे धनिकोंकी भी परवा नहीं करता। पैसा पास न होनेपर भी अच्छे-अच्छे लखपती-करोड़पती उससे थर-थर काँपते हैं। उस जनशक्तिसे भी बढ़कर आकर्षक सुन्दरी है। सुन्दरी संसारमें किसके मनको आकर्षित नहीं कर सकती। अच्छे-अच्छे करोड़पतियोंके कुमार सुन्दरीके तनिक-से कटाक्षपर लाखों रुपयोंको पानीकी तरह बहा देते हैं।

हमारी आँखोंको चकित की हुई दमयन्तीको अनेकों तपस्वीगण उसको टेढ़ी भौंहके ऊपर वार देनेको उद्यत होते हैं। धनी हो चाहे गरीब, पण्डित हो चाहे मूर्ख, शूरवीर हो अथवा निर्बल जिसके ऊपर भी भौंहरूपी कमानसे कटाक्षरूपी बाणको खींचकर सुन्दरीने एक वार मार दिया प्रायः वह मूर्छित हो ही जाता है। तभी तो राजर्षि भर्तृहरिने कहा है 'कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः' अर्थात् कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले इस संसारमें विरले ही मनुष्य हैं। कामदेवकी सहचरी सेनानायिका सुन्दरी ही है। उस सुन्दरीसे भी बढ़कर कविता है। जिसको कविताकामिनीने अपना कान्त कहकर वरण कर लिया है, उसके मन त्रैलोक्यकी सम्पत्ति भी तुच्छ है। वह धनहीन होनेपर भी शाहंशाह है। प्रकृति उसकी मोल ली हुई चेरी है। वह राजा है, महाराजा है, दैव है और विधाता है। इस संसारमें कमनीय कवित्व-शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान् पुरुषको प्राप्त हो सकती है। किन्तु प्यारे ! मैं तो धन, जन, सुन्दरी तथा कविता इनमेंसे किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रखता। तब तुम पूछोगे—'तो तुम और चाहते ही क्या हो ?' इसका उत्तर यही है कि हे जगदीश ! मैं कर्मबन्धनोंको मेटनेकी प्रार्थना नहीं करता। मेरे प्रारब्धको मिटा दो ऐसी भी आकांक्षा नहीं रखता। भले ही मुझे चौरासी लाख क्या चौरासी अरब योनियोंमें भ्रमण करना पड़े, किन्तु प्यारे प्रभो ! तुम्हारी स्मृति हृदयसे न भूले। तुम्हारे पुनीत पादपद्मोंका ध्यान सदा अक्षुण्ण भावसे ज्यों-का-त्यों ही बना रहे। तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति उसी प्रकार बनी रहे। मैं सदा चिल्लाता रहूँ—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(१)

(' किङ्करं

अयि नन्दतनूज पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कज-
स्थितधूली सदृशं विचिन्तय ॥

यह संसार समुद्रके समान है। मुझे इसमें तुमने क्यों फेंक दिया, हे नाथ ! इसकी मुझे कोई शिका यत नहीं । मैं अपने कर्मोंके अधीन होकर ही इसमें गोते लगा रहा हूँ । बार-बार डूबता हूँ और फिर तुम्हारी करुणाके सहारे ऊपर तैरने लगता हूँ । इस अथाह सागरके सम्बन्धमें मैं कुछ भी नहीं जानता कि यह कितना गहरा है, किन्तु हे मेरे रमण ! मैं इसमें डुबकियाँ मारते-मारते थक गया हूँ । कभी-कभी खारा पानी मुँहमें चला जाता है, तो कैसी होती लगती है । कभी कानोंमें पानी भर जाता है, तो कभी आँखें ही नमकीन जलसे चिरचिराने लगती हैं । कभी नाकमें होकर भी जल चला जाता है । हे मेरे मनोहर मल्लाह ! हे मेरे कोमलप्रकृति केवट ! मुझे अपना नौकर जानकर, सेवक समझकर कहीं बैठनेका स्थान दो । तुम तो मल्लाहके छोकरे हो न, बड़े चपल हो । पूछ सकते हो, 'इस अथाह जलमें मैं बैठनेके लिये तुझे स्थान कहाँ दूँ । मेरे पास नाव भी तो नहीं जिसमें तुम्हें बिठा दूँ ।' तो हे मेरे रसिक-शिरोमणि ! मैं बालकी नहीं करता, तुम्हें भुलाता नहीं, सुझाता हूँ । तुम्हारे पास एक ऐसा स्थान है, जो डूबतोंको आश्रय दे सकता है । तुम्हारे ये अरुण वर्णके जो कोमल चरणकमल हैं, ये तो जलमें ही रहनेके आदी हैं । इन कमलोंमें सैकड़ों धूलिके कण जलमें रहनेपर भी नहीं डूबते और उसमें तुमने मुझ-जैसे अनेकों डूबते प्राणियोंको लादिले लाद ! उन्हीं धूलि-रूपसे बिना डूबे ही बैठे हैं । हे नन्दजीके लाड़िले लाल ! मुझे भी उन पावन पद्मोंमें रेणु बनाकर कणोंमें मेरी भी गणना कर लो ।

बिठा लो। यहाँ बैठकर मैं तुम्हारे धीरे-धीरे पैर हिलानेकी क्रीड़ाके साथ थिरक-थिरककर सुन्दर स्वरसे इन नामोंका गायन करता रहूँगा—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(६)

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

प्यारे ! मैंने ऐसा सुना है कि आँसुओंके भीतर जो सफेद-सफेद काँचका-सा छोटा-सा घर दीखता है, उसीके भीतर तुम्हारा घर है। तुम सदा उसीमें वास करते हो। यदि यह बात ठीक है, तब तो प्रभो ! मेरा नाम लेना व्यर्थ ही है। मेरी आँखें आँसू तो बहातीं ही नहीं, तुम तो भीतर ही छिपे बैठे रहते होगे। बोलना-चालना तो वाचालतामें होता है, तुम सम्भवतया मौनियोंसे प्यार करते होगे, किन्तु दयालो ! मौन कैसे रहूँ ? यह वाणी तो अपने-आप ही फूट पड़ती है। वाणीको रोक दो, गलेको बंद कर दो, जिससे स्पष्ट एक भी शब्द न निकल सके। सुस्तीमें सभी वस्तुएँ शिथिल हो जाती हैं। तुम कहते हो—'तेरे ये शरीरके बाल क्यों पड़े हैं ?' प्यारे ! इनमें विद्युत्‌का सञ्चार नहीं हुआ है। अपनी विरहरूपी बिजली इनमें भर दो जिससे ये तुम्हारे नामका शब्द सुनते ही चौंककर खड़े हो जायँ। हे मेरे विधाता ! इनकी सुस्ती मिटा दो, इनमें ऐसी शक्ति भर दो जिससे फुरहुरी आती रहे। बस, जहाँ तुम्हारे नामकी ध्वनि सुनी, वहीं दोनों नेत्र लबालब अश्रुसे भर आये, वाणी अपने-आप ही

रुक गयी, शरीरके सभी रोम बिल्कुल खड़े हो गये। प्यारे! तुम्हारे इन मधुर नामोंको लेते हुए कभी मेरी ऐसी स्थिति हो भी सकेगी क्या!

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

(७)

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

हाय रे प्यारे! लोग कहते हैं आयु अल्प है, किन्तु प्यारे! मेरी आयु तो तुमने अनन्त कर दी है और तुम मुझे अमर बनाकर कहीं छिप गये हो। हे चोर! जरा आकर मेरी दशा तो देखो। तुम्हें बिना देखे मेरी कैसी दशा हो रही है, जिसे लोग "निमेष" कहते हैं, पलक मारते ही जिस समयको व्यतीत हुआ बताते हैं, वह समय मेरे लिये एक युगसे भी बढ़कर हो गया है। इसका कारण है तुम्हारा विरह। लोग कहते हैं, वर्षा चार ही महीने होती है, किन्तु मेरा जीवन तो तुमने वर्षामय ही बना दिया है। मेरे नेत्रोंसे सदा वर्षाकी धाराएँ ही छूटती रहती हैं क्योंकि तुम दीखते नहीं हो, कहीं दूर जाकर छिप गये हो। नैयायिक चौबीस गुण बताते हैं, सात पदार्थ बताते हैं। इस संसारमें विविध प्रकारकी वस्तुएँ बतायी जाती हैं, किन्तु प्यारे मोहन! मेरे लिये तो यह सम्पूर्ण संसार सूना-सूना-सा ही प्रतीत होता है, इसका एकमात्र कारण है तुम्हारा अदर्शन। तुम मुझे यहाँ फँसाकर न जाने कहाँ चले गये हो, इसलिये मैं सदा रोता-रोता चिल्लाता रहता हूँ—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

(८)

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

हे सखि ! इन व्यर्थकी बातोंमें क्या रक्खा है । तू मुझे उसके गुणोंको क्यों सुनाती है ? वह चाहे दयामय हो या धोखेबाज, प्रेमी हो या निठुर, रसिक हो या जारशिरोमणि । मैं तो उसकी चेरी बन चुकी हूँ । मैंने तो अपना अंग उसे ही अर्पण कर दिया है । वह चाहे तो इसे हृदयसे चिपटाकर प्रेमके कारण इसके रोमोंको खड़ा कर दे या अपने विरहमें जलसे निकाली हुई मर्माहत मछलीकी भाँति तड़पाता रहे । मैं इस लम्पटके पाले अब तो पड़ ही गयी हूँ । अब सोच करनेसे हो ही क्या सकता है, जो होना था सो हो चुका । मैं तो अपना सर्वस्व उसपर वार चुकी । वह इस शरीरका स्वामी बन चुका । अब कोई अपर पुरुष इसकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देख सकता । उसके अनन्त सुन्दर और मनोहर नाम हैं, उनमेंसे मैं तो रोते-रोते इन्हीं नामोंका उच्चारण करती हूँ—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

प्रेमी पाठकोंका प्रेम दिन दूना रात चौगुना बढ़ता रहे, क्या इस भिखारीको भी उसमेंसे एक कण मिलेगा ?

इति शम् ।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

श्रीहरिः

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीबदरीनारायणसे लौटनेपर जब यहाँ आया था, तब वहाँ एक जलपात्र, भिक्षापात्र और टाटकी कथरी मेरी सम्पत्ति थी। यहाँ आनेपर बहुत दिनोंके पश्चात् पुस्तक लिखनेकी प्रेरणा हुई और उसी समय सभी आवश्यकीय पुस्तकें भी बिना विलम्बके एकत्रित हो गयीं। जिसने लिखवानेकी प्रेरणा की उसीने पुस्तकें जुटा दीं। उसकी लीला है, उसे धन्यवाद तो क्या दूँ! सेवकके धन्यवादका मूल्य ही क्या है! मूल्य न भी हो, तो भी मैं बिना ही मूल्य दे दूँ तो यह मेरी अनधिकार चेष्टा समझी जायगी। अतः उन भगवत्कृपापात्र बन्धुओंका ही शुभनाम मैं यहाँ दिये देता हूँ, जिनके पवित्र हृदयमें उसने ऐसी परम पावन प्रेरणा की। जितनी पुस्तकोंकी मैं सूची दे रहा हूँ, उनमेंसे मैंने किसीको तो केवल उलट-पुलटकर ही देखा, किसीकी विषय-सूची ही देखी, किसीको कुछ पढ़ा भी। आद्योपान्त पूरी तो शायद ही कोई पढ़ी हो। कहावत है—'लेखक लोग पुस्तकें पढ़ते नहीं सूँघते हैं।' यथार्थ बात ऐसी ही है। इन पुस्तकोंको मैंने केवल सूँघाभर है। फिर भी उनका उल्लेख कर देना तो आवश्यक ही है। लेखक, प्रकाशक, अनुवादक सभीके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

विनीत—लेखक

श्रीहरिः

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीबदरीनारायणसे लौटनेपर जब यहाँ आया था, तब यही एक जलपात्र, भिक्षापात्र और टाटकी कथरी मेरी सम्पत्ति थी। यहाँ आनेपर बहुत दिनोंके पश्चात् पुस्तक लिखनेकी प्रेरणा हुई और उसी समय सभी आवश्यकीय पुस्तकें भी बिना विलम्बके एकत्रित हो गयीं। जिसने लिखानेकी प्रेरणा की उसीने पुस्तकें जुटा दीं। उसकी लीला है, उसे धन्यवाद तो क्या दूँ? सेवकके धन्यवादका मूल्य ही क्या है? मूल्य न भी हो, तो भी मैं बिना ही मूल्य दे दूँ तो यह मेरी अनधिकार चेष्टा समझी जायगी। अतः उन भगवत्कृपापात्र बन्धुओंका ही शुभनाम मैं यहाँ दिये देता हूँ, जिनके पवित्र हृदयने उसने ऐसी परम पावन प्रेरणा की। जितनी पुस्तकोंकी मैं सूची दे रहा हूँ, उनमेंसे मैंने किसीको तो केवल उलट-पुलटकर ही देखा, किसीकी विषय-सूची ही देखी, किसीको कुछ पढ़ा भी। आद्योपान्त पूरी तो शायद ही कोई पढ़ी हो। कहावत है—'लेखक लोग पुस्तकें पढ़ते नहीं सूँघते हैं।' यथार्थ बात ऐसी ही है। इन पुस्तकोंको मैंने केवल सूँघाभर है। फिर भी उनका उल्लेख कर देना तो आवश्यक ही है। लेखक, प्रकाशक, अनुवादक सभीके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

विनीत—लेखक

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त
१	श्रीश्रीचैतन्यभागवत आदिखण्ड (बंगला)	श्रीवृन्दावनदासठाकुर; श्री-भक्तिसिद्धान्तसरस्वतीद्वारा सम्पादित। गौड़ीय भाष्य	श्रीगौड़ीयमठ, कलकत्ता	पू० हरिबाबाजी
२	श्रीश्रीचैतन्यभागवत मध्यखण्ड (बंगला)	"	"	"
३	श्रीश्रीचैतन्यमंगल	श्रीलोचनदासठाकुर; श्रीभक्ति-सिद्धान्तसरस्वतीद्वारा सम्पादित	श्रीचैतन्यमठ, नदिया	"
४	श्रीअमियनिमाईचरित (प्रथम खण्ड)	श्रीशिशिरकुमार घोष	नं० २ आनन्द चट्टो-पाध्याय लेन बागबाजार, कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी गँवा (बदायूँ)
५	श्रीअमियनिमाईचरित (द्वितीय खण्ड)	"	"	"
६	" तृतीय खण्ड	"	"	"
७	" चतुर्थ खण्ड	"	"	"
८	" पञ्चम खण्ड	"	"	"
९	" षष्ठ खण्ड	"	"	"

१०	लार्ड गौराङ्ग (अंग्रेजी) (प्रथम खण्ड)	श्रीशिशिरकुमार घोष	'अमृतबाजार पत्रिका' कार्यालय, कलकत्ता	पू० हरिबाबाजी
११	,, (द्वितीय खण्ड)	,,	,,	,,
१२	लाइफ ऑफ लव			
१३	श्रीरायरामानन्द (बंगला)	श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण	नं० २५ बागबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी गैना (बदायूँ)
१४	श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामीविरचित (अमृत-प्रवाह और अनुभाष्यसहित)	गौड़ीय मठ, कलकत्ता	,,
१५	गम्भीराय श्रीगौराङ्ग (बंगला)	श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण	नं० २५ बागबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	,,
१६	श्रीलाम्सले ब्रजमाधुरी (बंगला)	,,	,,	,,
१७	श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत (बंगला) (प्रथम खण्ड)	श्री 'म' कथित	१३। २ गुरुप्रसाद चौधरी लेन, कलकत्ता	,,

२५	व्रजमाधुरीसार (हिन्दी)	पं० वियोगीहरिजी	हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, गँवा (बदायूँ)
२६	श्रीचैतन्यचरितामृत मूल (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदासजी गोस्वामी	श्रीविपिनविहारी विश्वास, कलकत्ता	लाला बाबूलालजी, गँवा (बदायूँ)
२७	श्रीमद्भागवत (मूल)	भगवान् वेदव्यासप्रणीत	श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेस, बम्बई	,,
२८	श्रीभक्तमाल (बंगला)	श्रीलालदासबाबाजी (कृष्णदास) नाभाजीकी भक्तमाला बंगला अनुवाद	नं० २१ नन्दकुमार चौधरी द्वितीय लेन, कलकत्ता	,,
२९	श्रीमद्भागवत (हिन्दी अनुवाद) (प्रथम खण्ड)	ब्र० कु० रामस्वरूप शर्मा कृत अनुवाद	लक्ष्मीनारायणप्रेस मुरादाबाद	,,
३०	,, (द्वितीय खण्ड)	,,	,,	,,
३१	श्रीमद्भागवत (चूर्णिका टीका, संस्कृत)			श्रीठाकुरद्वारा पुस्तकालय गँवा (बदायूँ)
३२	श्रीमद्भागवत (श्रीधरी टीका)	श्रीधरस्वामीकृत संस्कृत टीका	लीथोकी छपी	,,
३३	,,	,,	,,	पं० बदरीप्रसादजी, अनूपशहर

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	जिनके द्वारा प्राप्त
१८	श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत (बंगला) (द्वितीय खण्ड)	श्री'म'कथित	१३।२ गुरुप्रसाद चौधरी लैन, कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, बेंदा (बदायूँ)
१९	" (तृतीय खण्ड)	"	"	"
२०	" (चतुर्थ खण्ड)	"	"	"
२१	गीतगोविन्दम् (बंगाक्षरोंमें)	श्रीकविजयदेवविरचितम् संस्कृतटीका, बंगानुवाद,	१६६, बहूबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	"
२२	रामचरितमानस (हिन्दी)	गो० तुलसीदासजी, बाबू श्यामसुन्दरलाल बी० ए० द्वारा भाषाटीका	इण्डियन-प्रेस, प्रयाग	"
२३	विनय-पत्रिका (हिन्दी)	गो० तुलसीदासजी, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकृत भाषाटीका	गीताप्रेस, गोरखपुर	"
२४	श्रीविष्णुप्रियागौराङ्ग-रूपावली (संस्कृत)	अ० श्रीरामानन्द व्याख्यान-विशारद	ला० हरजीमल गणेशीलाल नया बाजार, दिल्ली	"

२५	मजमाधुरीसार (हिन्दी)	सं० वियोगीहरिजी	हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, गँवा (बदायूँ)
२६	श्रीचैतन्यचरितामृत मूल (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदासजी गोस्वामी	श्रीविपिनविहारी विश्वास, कलकत्ता	लाला बाबूलालजी, गँवा (बदायूँ)
२७	श्रीमद्भागवत (मूल)	भगवान् वेदव्यासप्रणीत	श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेस, बम्बई	"
२८	श्रीश्रीभक्तमाल (बंगला)	श्रीलालदासबाबाजी (कृष्णदास) नाभाजीकी भक्तमाला बंगला अनुवाद	नं० २१ नन्दकुमार चौधरी द्वितीय लेन, कलकत्ता	"
२९	श्रीमद्भागवत (हिन्दी अनुवाद) (प्रथम खण्ड)	मु० कु० रामस्वरूप शर्मा कृत अनुवाद	लक्ष्मीनारायणप्रेस मुरादाबाद	"
३०	" (द्वितीय खण्ड)	"	"	"
३१	श्रीमद्भागवत (चूर्णिका टीका, संस्कृत)			श्रीठाकुरद्वारा पुस्तकालय गँवा (बदायूँ)
३२	श्रीमद्भागवत (श्रीधरी टीका)	श्रीधरस्वामीकृत संस्कृत टीका	लीथोकी छपी	"
३३	"	"	"	पं० बद्रीप्रसादजी, अनूपशहर

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	जिनके द्वारा प्राप्त
४५	श्रीमाध्वगौडीयतत्त्व-दिग्दर्शनम्	श्रीबाँकेबिहारीलालजी 'बाँकेपिया'	निदानमहलरोड, लखनऊ	आचार्य श्रीअनन्तलाल गोस्वामी राधारमणजीका मन्दिर श्रीवृन्दावन
४६	भक्तचरितावली (हिन्दी)	श्रीशशिभूषण वसुकी बंगला पुस्तकका अनुवाद, अ० लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय	इण्डियनप्रेस, प्रयाग	बाबू रामशरणजी अग्रवाल, बी० ए०, एल० टी० मास्टर, डी० ए० वी० हाई स्कूल, बुलन्दशहर
४७	श्रीसुभाषितरत्नभाण्डा-गारम् (संस्कृत)	श्रीकाशीनाथ शर्माद्वारा संगृहीत	निर्णयसागर-प्रेस, मुम्बई	श्रीरामभज पं० गंगासहायजी गौड़ (बदायूँ)
४८	श्रीगौराङ्गमहाप्रभु(हिन्दी)	बा० शिवनन्दनसहायजी	खड्गविलासप्रेस, बाँकीपुर	श्रीआनन्द ब्रह्मचारीजी

४९	भक्तचरितावली (हिन्दी)	श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	हिन्दीप्रेस, प्रयाग	श्रीआनन्द-ब्रह्मचारीजी
५०	श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि खण्ड) हिन्दी	अनु० श्रीराधाचरण गोस्वामी	श्रीराधारमणजीका मन्दिर, श्रीवृन्दावन	पू० हरिबाबाजी
५१	श्रीमनुस्मृति	श्रीकुल्लूकभट्टविरचित टीका		”

इन पुस्तकोंके अतिरिक्त 'कल्याण' सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजीने गीताप्रेससे अबतककी प्रकाशित सभी पुस्तकें तथा श्री बा० बाँकेबिहारीलालजी "बाँकेपिया" जीने अपनी बिना मूल्य वितरित की जानेवाली छोटी-छोटी १४ पुस्तकें भेजी थीं। समयाभावके कारण मैं इन्हें देख भी न सका। मेरे विषयसे इनका बहुत ही कम सम्बन्ध था।

विनीत—

लेखक

श्रीचैतन्य-चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ

विभिन्न भाषाओंमें हमें श्रीचैतन्यदेवके चरित्रसम्बन्धी जिन ग्रन्थोंका पता चला है, उनके नाम नीचे दिये देते हैं—

संस्कृत

१—श्रीमुरारी गुप्तका कड़चा—ले० श्रीमुरारी गुप्त (ये महाप्रभुके समकालीन थे ।)

२—चैतन्य-चरित काव्य—ले० श्रीमुरारी गुप्त ।

३—श्रीचैतन्यचरित महाकाव्य—ले० कवि कर्णपूर (कोई-कोई इसे इनके बड़े भाई चैतन्यदासकृत बताते हैं । ये तीनों भाई प्रभुके सामने वर्तमान थे ।)

४—श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक—ले० कवि कर्णपूर ।

५—श्रीगौरगणोद्देशदीपिका—ले० कवि कर्णपूर (इसमें कौन गौरभक्त किस सखीके अवतार हैं, यह बात बतायी गयी है ।)

६—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत—श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीकृत ।

७—श्रीगोविन्दकड़चा—ले० श्रीगोविन्ददासजी ।

८—श्रीचैतन्यचरित—श्रीचूड़ामणिदासकृत ।

९—श्रीकृष्णचैतन्योदयावली—श्रीप्रद्युम्न मिश्रकृत (ये महाप्रभुके चचेरे भाई थे ।)

१०—अनन्तसंहिता ।

११—चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष—(यह स्तवावलीके ही अन्तर्गत है, श्री० गो० रघुनाथदासकृत ।)

१२—श्रीचैतन्यशतक—श्री० कवि कर्णपूर ।

१३—श्रीचैतन्यशतक—श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य ।

१४—श्रीमद्गौराङ्गलीलास्मरणमंगलस्तोत्र । —श्रीकेदारनाथभक्तिविनोद

बँगला

१५–श्रीचैतन्यभागवत— श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकृत ।

१६–श्रीचैतन्यचरितामृत—श्रीगोस्वामी कृष्णदासजी कविराजकृत ।

१७–श्रीचैतन्यमंगल—ठाकुर लोचनदासजीकृत ।

१८–मनःसन्तोषिनी—श्रीजगज्जीवनजी (श्रीकृष्णचैतन्योदयावलीका बँगला अनुवाद है ।)

१९–श्रीनरोत्तम ठाकुरकी पदावली ।

२०–'पदाप्रकाश'—श्री० वासुदेव घोष, माधव घोष और गोविन्द घोष (ये तीनों सगे भाई थे, एक पदमें तीनों ही अपना नाम देते हैं, तीनों ही प्रसिद्ध पदकार और प्रभुके भक्त थे ।)

२१–गौराङ्ग-उदय—श्रीमुकुन्द पारिषद ।

२२–गौर-चन्द्रिका—श्रीमुकुन्द पारिषद ।

२३–प्रेमविलास—श्रीनित्यानन्ददास (महाप्रभुके पीछेकी लीलाओंका इन्होंने वर्णन किया है ।)

२४–श्रीगौराङ्गमहाभारत—प्रभुपाद हरिदास गोस्वामीद्वारा सम्पादित । (श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतके पद्योंके भावोंको लेकर पहले यह 'नवद्वीपलीला' और 'नीलाचललीला'के नामसे क्रमशः निकला था । बड़ा भारी पोथा होनेसे ही इसका नाम 'गौराङ्गमहाभारत' रख दिया । बड़े साइजमें छपे हुए १७७४ पृष्ठ हैं और अक्षर भी बहुत महीन हैं ।)

२५–'श्रीअमियनिमाईचरित'—ले० महात्मा शिशिरकुमार घोष (पृथक्-पृथक् छः खण्डोंमें है । घोष महाशय 'अमृतबाजारपत्रिका' नामक अंग्रेजी प्रसिद्ध दैनिक पत्रके सम्पादक थे ।

२६—निमाईसंन्यासनाटक —ले० डी० एल० राय महाशय।

२७—गम्भीराय श्रीगौराङ्ग—ले० श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण।

२८—नीलाचलेव्रजमाधुरी—ले० श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण।

इनके अतिरिक्त श्रीविद्याभूषण महाशयने 'श्रीमद्दासगोस्वामी' 'श्रीस्वरूप दामोदर' 'श्रीराम रामानन्द' नामकी कई बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। इन सभीमें गौरचरित्र ही है, क्योंकि ये सभी महानुभाव श्रीगौराङ्गके अङ्ग ही थे।

'श्रीश्रीविष्णुप्रियागौराङ्ग' नामक बँगला मासिक पत्रिकाके सम्पादक श्रीपाद हरिदास गोस्वामीने 'गौराङ्गमहाभारत' के सिवा श्रीश्रीविष्णुप्रियाचरित, श्रीलक्ष्मीप्रियाचरित, श्रीविष्णुप्रियानाटक, श्रीगौरगीतिका, बङ्गालीर ठाकुर श्रीगौराङ्ग, श्रीविष्णुप्रिया-विलापगीति, श्रीमुरारिगुप्त प्रतिष्ठित श्रीनिताई गौर[illegible] आदि छोटी-बड़ी बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। इन सबमें ही प्रकारान्तरसे वे ही सब चैतन्य-चरितकी बातें हैं।

अंग्रेजी

29—Lord Gouranga (In two parts): By Mahatma Shishir Kumar Ghosh.

30—Life of Love.

31—Chaitanya and his Age: By Rai Bahadur Dinesh Chandra Sen.

32—Chaitanya and his Contemporaries: By Rai Bahadur Dinesh Chandra Sen.

33—Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu: By Thakur Bhakti Vinode.

34—Chaitanya's Pilgrimages and Teachings: By Sir Jadunath Sircar.

हिन्दी

३५–श्रीचैतन्यचरितामृत (व्रजभाषामें प्रतिध्वनि आदि खण्ड) ले० श्रीराधाचरणदास गोस्वामी विद्यावागीश।

३६–श्रीगौराङ्ग महाप्रभु—या० शिवनन्दनसहाय।

गुजराती

३७–प्रेमावतार चैतन्यदेव—श्रीनर्मदाशङ्कर पंड्या।

इनके अतिरिक्त उड़िया, मराठी, तैलगु या अन्य भाषाओंमें श्रीचैतन्यदेवके जीवन-चरित्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ होंगे, उनका हमें पता नहीं चला है। हाँ उर्दूमें ४ भागोंमें एक 'गोराचाँद' नामक ग्रन्थ भी हमने देखा है।